लेखक एव सम्पादक

कर्पूरचन्द्र कुलिश

प्रकाशक

राजस्थान सस्कृत साहित्य अकादमी

जयपुर

वेद विज्ञान

□

कर्पूरचन्द्र कुलिश

□

राजस्थान संस्कृत साहित्य अकादमी
सीरेश्वर भवन, गणगौरी बाजार
जयपुर

□

मूल्य

□

प्रथम संस्करण वि० सं० २०४४

□

रतनपुर प्रिंटर्स
दीनानाथ मार्ग

प्रस्तावना

वेद भारतीय सस्कृति के सर्वस्व हैं। हजारो वर्षो से उनका अनुशीलन और उन पर भाष्य आदि का लेखन चलता रहा है। इस क्रम मे स्वनामधन्य मनीषी समीक्षाचक्रवर्ती प मधुसूदन ओझा की वेदो की विज्ञानवादी व्याख्या ने एक नये युग का सूत्रपात किया था। उनकी स्थापना थी कि वेदो मे विज्ञान के ऐसे तथ्य और रहस्य निहित हैं जिनकी ओर पिछली शताब्दियो मे हमारा ध्यान नही जा पाया था।

ओझाजी ने अपना सारा जीवन इसी साधना मे बिताया और वेदो मे निहित ऐसे वैज्ञानिक रहस्यो के स्पष्टीकरण के लिए "महर्षिकुल वैभवम" "इन्द्र विजय" "ब्रह्म सिद्धान्त" आदि शताधिक ग्रन्थ लिखे। उन्होने मई 1902 मे लन्दन मे अपनी सस्कृत वक्तृता द्वारा पाश्चात्य विद्वानो को चमत्कृत कर दिया। 'वेदधर्मव्याख्यानम्' शीर्षक से बाद मे छपे इन व्याख्यानो मे भी उन्होने यही सकेत दिया है कि वेदो मे निहित इन वैज्ञानिक तथ्यो के गभीर अनुशीलन की कितनी आवश्यकता है। जयपुर रियासत ने ओझाजी को प्रभूत सम्मान दिया और यहा का प्रमुख पडित एव धर्म सभा का अध्यक्ष बनाया। राज्याश्रय मे रह कर उन्होने अपना पूरा जीवन गभीर अध्ययन मे लगाया और ऐसे ग्रन्थ लिखे जो युगान्तरकारी सिद्ध हुए, यह जयपुर और राजस्थान के लिए गौरव की बात है।

प० मधुसूदनजी के शिष्य प० मोतीलाल शास्त्री भी जयपुर मे हुए जिन्होने अपने गुरु द्वारा प्रवर्तित पद्धति पर वैदिक विज्ञान का प्रतिपादन करने हेतु अनेक ग्रन्थ हिन्दी मे लिखे, शतपथ ब्राह्मण का हिन्दी मे भाष्य लिखा और जीवन भर इसी अध्ययन-लेखन मे निरत रहे तथा 'मानवाश्रम" नाम से वेद विद्या के अध्ययनार्थ प्रतिष्ठान स्थापित कर गये।

वेदो मे निहित वैज्ञानिक रहस्यो के प्रतिपादन की यह पद्धति गूढ और श्रमसाध्य थी। अत इन दोनो विद्वानो के स्वर्गारोहण के बाद उस पद्धति से मनन और ग्रन्थ लेखक का क्रम शिथिल हो गया तथा इस पद्धति को जानने वाले और समझने वाले विद्वान् भी विरल होते गये। यह अत्यन्त हर्ष की बात है कि राजस्थान के अग्रणी दैनिक राजस्थान पत्रिका के सस्थापक सपादक श्री कर्पूर चन्द कुलिश ने इस विद्या की ओर रुचि दिखाई और स्वय इन दोनो विद्वानो के ग्रन्थो का गहन अध्ययन किया।

श्री कुलिश की यह लगन थी कि इस दुर्लभ विद्या का, जिसका अविर्भाव जयपुर (राजस्थान) की धरती पर हुआ है, ज्ञान लुप्त न हो बल्कि निरन्तर बढता रहे। इसी कारण उन्होने अपने दैनिक मे इस विषय के अनेक लेख स्वय लिखकर प्रकाशित कराए तथा प० मधुसूदन ओझा एव प० मोतीलाल शास्त्री की अनेक कृतियो या उनके अनुवादो का धारावाहिक प्रकाशन भी इस पत्रिका के माध्यम से किया। प० मोतीलाल शास्त्री के अनेक अप्रकाशित विशाल ग्रथो का प्रकाशन भी कर उन्होन एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रेरक भूमिका इस दिशा मे निभाई है।

श्री कुलिश ने देश-विदेश मे इसी विषय पर हिन्दी व अंग्रेजी मे व्याख्यान देकर भी इस विद्या के प्रसार मे महती भूमिका निभाई है।

इससे पूरे देश मे विशेष कर राजस्थान मे वेदो के इस वैज्ञानिक रहस्यो क प्रति रुचि और जिज्ञासा जगी है। राजस्थान सस्कृत अकादमी ने अनुभव किया कि ओझाजी की इस पद्धति की जानकारी आज की नई पीढी को हो और सामान्य जिज्ञासुओ तक यह विषय किसी माध्यम से पहुँचे यह आज की आवश्यकता है। इसीलिए प्रथमत श्री कपूर चन्द कुलिश से यह अनुरोध किया गया कि 'राजस्थान पत्रिका' मे उनके जो लेख इस विषय पर निकले है उनका सकलन कर उनके प्रकाशन की हमे अनुमति दें जिससे कुछ सुबोध सामग्री इस विषय के जिज्ञासुओ के मार्ग-दर्शनार्थ प्रस्तुत की जा सके।

श्री कुलिश ने सहर्ष अपने लेख हमे भेजे जिसके लिए हम उनके कृतज्ञ है। यह सकलन हमारा प्रथम प्रयास है जो उन छात्रो और ... सुविधा के लिए समर्पित है जो इस विषय की प्रारम्भिक

जानकारी करना चाहते है, ओझाजी के मूल ग्रन्थो के सम्पादन और प्रकाशन का भी हमारा प्रयत्न रहा है और आशा है, हम उनके कुछ ग्रन्थ प्रकाशित कर विद्वानो के समुख प्रस्तुत नर सकेगे। उदाहरणार्थ उनकी एक अप्रकाशित "छन्द समीक्षा" श्री सुरजनदास स्वामी के सपादकत्व मे प्रकाशनाधीन है। आशा है शीघ्र ही प्रकाशित हो जायगी।

वैदिक विज्ञा विषयक इन लेखो के सग्रह के लिए हम श्री कुलिश के तो आभारी है ही, जिन अन्य विद्वानो ने इस प्रयास मे हमे सहयोग दिया उन्हे भी सहप धन्यवाद देते है। अकादमी की काय समिति के सदस्य श्री कलानाथ शास्त्री ने लेखो के व्यवस्थापन तथा प्रकाशन मे अनेक कार्यो मे हमे निरन्तर सहयोग दिया है जिसके लिए हम उनके आभारी है। श्री राजेन्द्र प्रसादमिश्र ने इस ग्रन्थ के प्रूफवाचन मे तथा *श्री कलानाथशास्त्री ने सशोधन मे श्रमपूर्वक कार्य किया है अत वे भी* धन्यवाद के पात्र हैं।

आशा है यह ग्रन्थ वेद विद्या और हमारी सस्कृति के जिज्ञासुओ की अनेक अपेक्षाओ की पूर्ति करेगा और उन्हे इस विषय के अन्य ग्रन्थो के अध्ययन की ओर प्रेरित करेगा।

(डॉ० मण्डन मिश्र)
अध्यक्ष
राजस्थान सस्कृत अकादमी

भूमिका

आज से लगभग दो वर्ष पूर्व मैंने राजस्थान पत्रिका मे विज्ञान वार्ता शीर्षक से एक स्तम्भ लिखना शुरु किया था, जिसका उद्देश्य वेद को विज्ञान के रूप में प्रस्तुत करना और प्रकाश में लाना था। वेद के विज्ञान पक्ष पर इस तरह का यह प्रथम प्रयास था। पिछले तीन-चार हजार वर्षों में वेद का यह रूप भी पहली बार ध्यान में आया कि वेद पूर्णत विज्ञान है और वेद ही विज्ञान है। वेद को इस रूप में प्रस्तुत करने का यह महत् पुण्य कार्य जयपुर के ही महामनीषी वेदमूर्ति समीक्षाचक्रवर्ती पण्डित मधुसूदन ओझा ने किया जिन्होंने २०० से अधिक ग्रन्थों की रचना संस्कृत भाषा में की। उन्हीं के शिष्य स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल शास्त्री ने उतने ही परिमाण में हिन्दी ग्रन्थ लिखे। मैं चूँकि वेद और संस्कृत दोनों के ही ज्ञान से शून्य हूँ, जिज्ञासा वश ही हिन्दी में प्रणीत शास्त्री जी के ग्रन्थों की ओर उन्मुख हुआ। १९५६ में राष्ट्रपति भवन में दिये गये उनके व्याख्यानों के सकलन से मैंने पारायण शुरु किया और धीरे-धीरे अन्य कई ग्रन्थ भी पढ़ डाले।

इन ग्रन्थों के पारायण से मुझे यह भली भांति अनुभव हो गया कि उक्त दोनों महापुरुष कुछ ऐसा कार्य इस देश के लिये और सम्पूर्ण मानव जाति के लिये कर गये हैं जिससे कि मानव को ठीक दिशा मिल सकती है और वह कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। मैंने निश्चय किया कि वेद के विज्ञान पक्ष की ओर जन जन का ध्यान आकर्षित किया जाय और सुदीर्घ काल तक एक अभियान चालू रखा जाय। यह ज्ञान शताब्दियों से विलुप्त है अतः हठात् इसकी पुन प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। मैंने अन्य सब कार्य छोड़कर अपनी अल्पबुद्धि के अनुसार लिखना प्रारम्भ कर दिया। पाठकों ने मेरे इस क्षुद्र प्रयास को प्रोत्साहन देकर आगे बढ़ाया और एक नियमित स्तम्भ चल पड़ा।

समाचार पत्र के पाठकों मे जन साधारण के बीच अनेक प्रवुद्ध पाठक भी हैं, जो समय समय पर अपने म तव्य से मुझे किसी न किसी रूप मे अवगत कराते रह ह।

राजस्थान पत्रिका मे प्रकाशित मेरी इन रचनाओ मे ज्ञान के रूप मे या वैदिक तत्वो के विषय मे कुछ भी विशिष्ट नही है। मैं उस विज्ञान तत्व के जानने का अधिकारी भी नही हू और अभी तक मैंने कुछ जाना भी नही है। मैं नियमित रूप से पढ रहा हू और जितना पढता हू उतना ही नया नया लगता है। पढे हुए को पढता हू तो भी वह नया ही लगता है और नये ही अर्थ प्रकट करता है। मैं अपने इस प्रयास को केवल प्रचारात्मक उपादेयता मानता हू। इसी सीमित उद्देश्य के साथ कार्यरत हू।

राजस्थान सस्कृत अकादमी ने मेरी इन रचनाओ को प्रकाशित करने का उदार प्रस्ताव मेरे सामने रखा, तब भी मैने अपनी अपात्रता को स्पष्ट शब्दो मे प्रकट कर दिया था। अकादमी की वेद निष्ठा इतनी प्रवल देखी कि उसने मेरे आधे अधूरे ज्ञान के प्रयास का प्रकाशित करने का आग्रह जारी रखा। परिणाम स्वरूप यह सकलन प्रस्तुत है। मैं अकादमी के प्रति अपनी विनम्र कृतज्ञता प्रकट करता हू।

मुझे अतीव प्रसन्नता होगी कि मेरे इन निवन्धो को पढकर हमारे शिक्षक समाज का, देश के नीति निर्माताओ का और सास्कृतिक सस्थाओ का ध्यान इस ज्ञान के मुख्य स्रोत की ओर आकर्षित हो और ऐसा कोई व्यापक प्रयास हो जिससे यह ज्ञान और विज्ञान का रत्न भण्डार हमारे लिये उपयोगी और सार्थक वने। मैं एक बार पुन आग्रह पूवक कहना चाहता हू कि वेद ही हमारी नीतियो का आधार है, वह हमारा उद्धारक ह और वही हमारा गन्तव्य है।

श्रावणी पूर्णिमा, सवत् २०४४
(९ अगस्त, १९८७)

विषयसूची

क्र स	विषय नाम	पृ स
1	वेद ही शिक्षा नीति का आधार हो	1
2	सवत्सर विद्या और सृष्टि रचना	9
3	विश्व की रचना का वैदिक विज्ञान	15
4	अग्न और यज्ञ का स्वरूप-परिचय	21
5	धूमकेतु ही सूर्य के निर्माता हैं	29
6	वर्णमाला का विकास	34
7	ब्रह्म सत्य है, परन्तु जगत् मिथ्या नही	39
8	गति-स्थितिमय विश्व	45
9	वराहा वायु और गणपति प्राण का स्वरूप	50
10	(धूम) केतुओं की उन्नीस जातिया	56
11	जीव का शरीर धारण	63
12	जीव की रचना	71
13	प्रजातन्तु वितान	77
14	यज्ञ का स्वरूप	83
15	यज्ञ का विस्तृत विधि-विधान	90
16	ईश्वर का स्वरूप	97
17	ईश्वर का दूसरा स्वरूप	104
18	सृष्टि का प्रवर्तक मायाबल	110
19	अन्य मायाबल	116
20	सृष्टि की रचना व विकास	122
21	ईश्वर-जीव सम वय	128
22	योषा-वृषा विवेचन	134
23	आशौच-निरूपण	140
24	अहोरात्र	145
25	वाग्देवी-1	152
26	वाग्देवी के विवर्त्त-2	158
27	वाग्देवी का स्वरूप-3	165
28	तीन पाच का विधान	172
29	एक वर्ष की यात्रा	177

वेद ही शिक्षा नीति का आधार हो

क्या कहे अहबाब क्या कारेनुमाया कर गये
बी ए हुये, नौकर हुये, पिन्शन मिली ओ' मर गये

हमारी शिक्षा-प्रणाली पर महान व्यग्यकार अकबर इलाहावादी का उक्त शेर सोलह आना सही बैठता है वल्कि इससे अच्छी टीका कही देखने मे भी नही आई। अकबर इलाहावादी का यह शेर आज से कोई पचास साल पहले का लिखा हुआ है। गम्भीर से गम्भीर तत्व की वात अकबर ने जितने सरल रूप मे कही है, आश्चयजनक है। अकबर का इशारा साफ है, वे कहना चाहते हैं कि शिक्षा को पेट से वाघ दिया गया है, उसका उद्देश्य केवल खाना-कमाना और मर जाना रह गया है।

देश के स्वाधीन होने के बाद से अब तक जितने भी राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री हुए है शिक्षा-प्रणाली की आलोचना करते रहे है, परन्तु परिणाम वही ढाक के तीन पात। बहु उद्देश्यीय शिक्षा-प्रणाली, दस- जमा-दो इत्यादि प्रयोग भी किये जा चुके है। उनकी परिणति जो होनी थी वही हुई। शिक्षा को लेकर इन दिनो जो नवीनतम विचार चल रहा है, वह रोजगार-मूलक शिक्षा पर आधारित है।

हम वतमान शिक्षा प्रणाली के लिये लार्ड मैकाले को कोसते हुए अघाते नही है परतु पिछले ३८ वर्षो मे हमने क्या किया, इसकी जवाबदारी उठाने को कोई तैयार नही है। मैकाले को भी सिफ इसलिये दोष देते है कि हमे कोई जवाबदारी न उठानी पडे। वरना मैकाले को दोष देना कोई माने नही रखता। मैकाले ने वही शिक्षा-प्रणाली हमारे देश मे लागू की जो उनके देश ब्रिटेन मे उस समय थी। अन्तर केवल राष्ट्रीय परिस्थितियो का और आर्थिक उतार चढाव का ही है। अलवत्ता भाषा उसकी अग्रेजी है। क्या भाषा के लिये भी मैकाले को दोष देना होगा ?

यह तो ऐसो चीज है कि बदली जा सकती है। हा देशवासी ही अंग्रेजी न छोडना चाह या शासको मे ही सकल्प न हा तो फिर मैकाले को कोसना ही एक मात्र उपाय है। खिसियानी बिल्ली खम्भा ही नाचती है।

हम तो अभी तक भी तय नहीं कर पाये कि शिक्षा का उद्देश्य क्या ह? क्या शिक्षा का प्रयोजन मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण करना है? क्या शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य की अभिव्यक्ति को बल देना है? क्या शिक्षा का लक्ष्य मनुष्य का सस्कार करना है? क्या इसका अभिप्राय पेट भरना है? जब कभी शिक्षा प्रणाली मे परिवतन का विचार नौकर-शाह करने लगते है और देश का दुर्भाग्य है कि यहं काम नाकर शाही से ही चलता है, कभी यह तय नही किया जाता कि शिक्षा का उद्देश्य क्या है? जब कुछ नही सूझता या कुछ नही सोचा जाता ता देश मे चारो ओर पनप रही बेकार शिक्षितो की भीड कचोटने लगती है और शिक्षा को रोजगार मूलक बनान का "विचार" चल पडा है। विचार की परिभाषा बदल जाती है।

शिक्षा का उद्देश्य क्या है ?

प्रश्न यह है कि क्या शिक्षा का उद्देश्य रोजगार देना है? यदि ऐसा ही है तो फिर शिक्षा की आवश्यकता क्या रह जाती है? रोजगार तो शिक्षा विहीन लोग भी करते है और अच्छा करते है। दूसरा प्रश्न है कि रोजगार का मतलब नौकरी ही क्यो? यह सच है कि जीविका उपलब्ध होना आवश्यक है जीविका का प्रबध हुए बिना सभी बडी बडी बातें फीकी लगती है, सुहाती नही। फिर प्रश्न उठता ह जीविका का मापदण्ड क्या हो? क्या वह रोटी, कपडा और मकान तक सीमित है? एक प्रश्न यह भी है कि रोटी, कपडा और मकान का ही यदि प्रश्न है तो वह केवल शिक्षितो के ही सामने नही है। अशिक्षित लोग भी रोटी, कपडा और मकान के अधिकारी हैं। कुल मिलाकर देखें ता यह मुद्दा आर्थिक है, शैक्षणिक कदापि नही है। भला इसी मे है कि शिक्षा नीति को पेट से बाहर निकाला जाय और अर्थनीति को पेट से जोड दिया जाय। शिक्षा नीति को लेकर अब तक जो भी भूलभुलैया बनी हुई है, उसका समाधान तब तक नही होगा जब तक कि उसे पेट से बाधे रखेंगे। एक पीढी तक के युवक को शिक्षा देने की व्यवस्था सरकार करे और उसके बाद उसका ने का जुगाड भी सरकार करे अर्थात नौकरी दे, तो यह कुचक्र

कभी वद ही नही होगा। अभी यही तो हो रहा है। हाई स्कूल तक यदि किसी किसान के लडके ने पढाई करली, तो हल को हाथ लगाना छोड दिया, खाती का लडका लकडी को भूल गया और लुहार के लडके ने लोहे से मुह फेर लिया। उसको नौकरी चाहिए। नौकरी मिल भी गई तो वह कैसी होगी, और उसकी जिन्दगी की जो तस्वीर बनेगी वह कैसी होगी। कहने की आवश्यकता नही। हाईस्कूल पढा लिखा नौकर क्या कभी अपने या अपने परिवार का भरण पोषण कर सकेगा? अतावत्ता वह अपना पारिवारिक धधा छोड बैठेगा। हो सकता है पर भी छोड दे और शहरो म जाकर गन्दी बस्तियो की आबादी बढाए। यही तो हो रहा है प्रतिदिन। कोई भी रोजगार मूलक शिक्षा देश को इस दुर्गति से छुटकारा नही दिला सकती।

अब फिर मैं मैकाले पर विचार करना चाहूगा। हमारे यहा जो शिक्षा-प्रणाली मैकाले ने प्रारभ की, मैं उसम छल नही देखता अपितु अज्ञान का पुट देखता हू। इस शिक्षा पद्धति मे आमूल-चूल रिक्तता है अत उसे प्राप्त करके जो स्नातक तैयार होता है वह भी अपने आपको रिक्त अनुभव करता है। उसके व्यक्तित्व मे जो कुछ ठोस या रचनात्मक होता है वह घरेलू सस्कारो या भारत के समष्टि जीवन का प्रभाव होता है। हमारे शिक्षा-क्रम मे व्यक्तित्व निर्माण के गुणो का नितान्त अभाव है। जिन तत्वो से व्यक्तित्व की नीव मजबूत होती है, उनका शिक्षा पद्धति मे समावेश नही है।

भाषा का सवाल

शिक्षा पद्धति का एक पक्ष भाषा है, इस देश मे सस्कृत जसी देववाणी और देवनागरी जसी वैज्ञानिक लिपि होते हुए भी हम उनका समुचित ज्ञान अपने बालक को नहीं कराते। हम भाषा पढाते है, परन्तु यह नही बताते कि वर्ण क्या है, कसे उत्पन्न होते है, शब्द क्या है, उनकी शक्ति क्या है और उसकी रचना कैसे होती है, उसका अर्थ किस प्रकार किया जाता है। देवनागरी लिपि पढने-लिखने मे सरलतम है और सस्कृत (भाषा) अभिव्यक्ति के लिए सरलतम माध्यम है। इस भाषा मे नये नये शब्दो की रचना का भी अजस्र स्रोत है और वह ज्ञान-कोष भी विद्यमान है, जो मानव सृष्टि का आदि-ज्ञान है। हम बार-बार विज्ञान मूलक दृष्टिकोण की बात करते है, परन्तु शिक्षा पद्धति मे उन सब

वज्ञानिक तत्वो का वहिष्कृत कर रखा है, जिनकी सहायता से हमारा शिक्षा ही वज्ञानिक वन सक्ती है ।

भापा के अतिरिक्त शिक्षा का दूसरा पक्ष है, आचार एव विपय-वस्तु । इस माने मे हमारी शिक्षा पद्धति पूणत निस्सार है। वालक को हम आचार शास्त्र या नीतिशास्त्र से सवथा विलग रखते ह । विपय-वस्तु के नाम पर हम आरम्भ से ही वालक को पुस्तको के भार से लाद देते ह, जिससे कोमल अन्तरग वाला वालक कुण्ठितप्राय हो जाता है । हम यह भल जाते है कि वालक को शिक्षा देने की श्रेष्ठतम विधि लालित्यपूण होती है । ललित भाव से शिक्षा का श्रेष्ठतम माध्यम हमारे देश मे पुराण, पचतत्र, हितापदशादि हो सकते ह आर इसकी भी पालना श्रुति के माध्यम से हो । मानव का आदि ज्ञान हो श्रुति के रूप मे प्रकट हुआ है आर व्यक्ति का आदि ज्ञान श्रुति से क्या नही उपार्जित हो । जिसे प्राप्त करके वालक उत्फुल्ल हा, वही श्रेष्ठतम शिक्षा है । कथा कहाना से वटकर काई चीज नही है जो वालक को उत्फुल्ल कर सके । यह काय उतना ही रुचिकर है जितना कि खेलकूद ।

श्रुति के माध्यम से दस वप तक की आयु के वालक को सम्पूण पुराणो का ज्ञान हो सकता है और तीन या चार भापाए सिखाई जा सकती हैं । पुराणो के सहारे इतिहास, भगोल, साहित्य, नीति इत्यादि विपयो का समझने की क्षमता भी वालक मे उत्पन्न हा जायेगी । आज ता हमारे पाठचक्रम का हाल यह है कि शहरी स्कूलो के वच्चे ट्विकल ट्विकल लिटिल स्टार जसी दर्जनो अग्रेजी कविताए रटे हुए होते ह, परन्तु किसी वालक या शिक्षक को देवनागरी के आठ अक्षरो वाला गायत्री मत्र नही आता जिसके उच्चारण से एक सास मे विश्व व्रह्माण्ड के साता भुवनो के नाम याद हो जाते है । इसी दौरान उसे तीन या चार भापाये भी पढाई जा सकती है और साधारण गणित भी । भापा-शिक्षा को हम तीन भागा मे वाट सकते है -

[१] मातृभापा, शास्त्रभापा, और राष्ट्रभापा । मातृभापा हर वालक का मा के दूध के साथ ही मिलती है । शास्त्र भापा के रूप मे सस्कृत पढाई और राष्ट्रभापा हिन्दी है ही । जो लाग हिन्दी का राष्ट्रभापा मानने

जो तैयार नही हैं उनके भाग्य पर दया करना ही उचित है। वे चाहे तो 'हीब्रू' भी पढ सकते है।

राष्ट्रभाषा का सवाल

अंग्रेजी के पक्ष मे जो लोग यह तक देते है कि अंग्रेजी मे विज्ञान विषय की पुस्तक है और वह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है अत उसका देश मे प्रचलित रहना अनिवाय है। जहा तक भाषा सीखने का प्रश्न है कोई भी भाषा हो उसे सीखना श्रेष्ठ काय है, परन्तु यह कहना कि अंग्रेजी विज्ञान का माध्यम है, ससार की अन्य भाषाओं का अपमान है। यदि अ तर्राष्ट्रीय भाषा के नाम पर ही अंग्रजी का व्यवहार अनिवाय माना जाता होता तो सयुक्त राष्ट्रसघ से वडा अन्तर्राष्ट्रीय मच कहा है ? यदि यह कहा जाता कि अंग्रेजी व्यवसाय की भाषा है तो भी बात समझ मे आ जाती। हमारा व्यवसायी वग एक सीमा तक अंग्रेजी मे कारोबार करता है। व्यवसाय मे शासन तत्र शिक्षण तत्र इत्यादि को भी शामिल किया जा सकता है। ये सब व्यवसाय के ही रूप मे वर्णित है। व्यवसाय का स्थान भी कालान्तर मे स्वदेशी भाषाय ले सकती है।

अब मैं विज्ञान की बात पर फिर आना चाहूगा। जो लोग अंग्रेजी को विज्ञान का माध्यम मानते है, उन्हे शीघ्रातिशीघ्र अपना भ्रम दूर कर देना चाहिये। अंग्रेजी ही नही अपितु पश्चिम मे जिस किसी भाषा मे भी भौतिक विज्ञान का उदय हुआ है उसे विज्ञान कहना "विज्ञान" शब्द का दुरुपयोग कहा जायेगा। विज्ञान के नाम पर ये लोग अज्ञान का प्रसार कर रहे है या व्यवसाय कर रहे है। ये वही लोग हैं जो कल तक धरती को सपाट या चपटी मानते रहे हैं। बेचारे गैलीलियो को अटकल (अनुसधान) लगाते लगाते यह जानकारी हाथ आई कि धरती गोल है। उस बेचारे ने इस बात को प्रकट कर दी। चूकि बाइवल मे धरती को सपाट लिखा था, गैलीलियो को जेल मे रहना पडा। एक अर्से के बाद इन लोगो ने मानना शुरू किया कि धरती गोल है। अब वह यह मानते है कि धरती घूमती है परन्तु सूय स्थिर है यह भी गलीलियो की देन है। सूय के आगे भी कुछ है वे अब कुछ कुछ मानन लगे है। आज भी पश्चिम के वैज्ञानिक मानते है कि सूय से ताप उत्पन्न होता है। आम धारणा भी यही है, परन्तु वह वैज्ञानिक नही है। अनेक भ्रान्तियो को पाले हुए वे लोग विज्ञान के नाम पर प्रयोग पर प्रयाग करते जा रहे है। इस दौर मे एक ओर [illegible]

पनप रहा है, दूसरी ओर अनिष्ट, अमगल और विनाशकारी शस्त्र सचय हो रहा है।

सृष्टि का आदि ज्ञान

इसके विपरीत इस देश मे वह ज्ञान विज्ञान विद्यमान है जो सृष्टि का आदि ज्ञान है। यहा से सम्पूर्ण ज्ञान और विज्ञान का प्रसार हुआ। इसी से देश का दुभाग्य और अध पतन हुआ कि जिस वेद को ज्ञान का उदगम माना जाता है, उसी को भुला दिया गया। हमारी दुर्गति भी इसीलिए हुई कि हमने अपने स्वरूप को ही भुला दिया और नाना प्रकार के क्षुद्रमतमतान्तर, पन्थ सप्रदाय आदि मे ज्ञान को विच्छृखल कर दिया। शिक्षा से तो उसे समूल विच्छिन्न कर दिया।

सृष्टि के समग्र विज्ञान की कुजी एक मात्र वेद है और वह आज भी विद्यमान है। जीव क्या है, जगत जानता है, भूत और प्राण क्या है। ऋतु परिवतन, प्रकाश, अन्धकार, दिशा और काल, जीवन और मृत्यु, वर्ण, अक्षर, क्षर आदि कोई ज्ञान ऐसा नही जो वेद में नही है। इसलिए वेद महर्षि को "विदित वेदितव्या" कहा गया है। अर्थात जानने योग्य जो कुछ है वह जता दिया गया। वेदो ने मानव सृष्टि के आदि मे यह हो बताया कि धरती घूमती है और गोल है और सूय भी परिक्रमा करता है, स्थिर नही है। प्रकृति का कोई अग और उपकरण अस्थिर और अपरिवतनीय नही है। पश्चिमी वैज्ञानिक यह नही जानते थे कि सूय या सौर मण्डल के परे भी कुछ है, परन्तु हम जानते है कि सूय भी परमेष्ठी की परिक्रमा करता है और परमेष्ठी भी स्वयभू की परिक्रमा करता है अर्थात सम्पूण विश्व ब्रह्माण्ड ही गतिशील है। इसमे कुछ भी स्थिर या अचल नहीं है।

हमारा दुर्भाग्य है कि वेद जसे आदिज्ञान को, श्रेष्ठ ज्ञान को, और सम्पूण विज्ञान के आधार को एक रहस्यमय और बुद्धि से बाहर की वस्तु बनाकर हाव्वा बना दिया है। जो सभी रहस्यो गुत्थियो को खोलने वाला विज्ञान है, उसी को हमने अज्ञेय बना दिया हमारी दुगति इसीलिए हुई कि हम वेद को भूल गये और हमारा उद्धार भी वेद विज्ञान से ही होगा, विडम्बना से आज मशीन ही विज्ञान का प्रतीक बनी हुई है। आवश्यकता है इस भ्रान्ति को दूर करने की। विडम्बना है कि हम वद

का कमकाण्ड और रहस्य की वस्तु मानने लग गये। आवश्यकता है इस भ्रान्ति को तुरन्त मिटाने की।

हमारी शिक्षा नीति का आधार ही वेद होना चाहिए और यही एक विद्या है जो मानव के लिए कल्याण का माग प्रशस्त कर सकती है। यही एक विद्या है जिसका किसी धर्म, सप्रदाय, मत, पथ, जाति, वण इत्यादि पर काई आग्रह नही, बल्कि इसी मे मनुष्य को सही दिशा और ज्ञान प्राप्त हो सकता है। वेद ही वह ज्ञान है जो भूत और प्राण, आ और शरीर, ब्रह्म और जगत सभी को सत्य मानता है। जगन्मिथ्या वाला धाष वेद नही मानता और वेद यह भी नही मानता कि आत्मा ही सत्य है, शरीर नही। भौतिक उन्नति से वेद का कोई विरोध नही। सरस्वती और लक्ष्मी के बीच वर होने की भ्रान्ति भी वेद नही मानता। वेद जीवन का विज्ञान है और हमारी सम्पूण दिनचर्या का कोई पक्ष या अश ऐसा नही जिसकी जानकारी वेद मे नही है।

मैं पुन जोर देकर कहना चाहूगा कि देश मे जो भी शिक्षा प्रणाली चाल की जाय उसका आधार वेद को ही बनाना होगा। इस देश की शिक्षा को मैकाले ने कोई नुकसान नही पहुचाया, बल्कि उन लोगो ने पहुचाया जिन्होने वेद को ज्ञान धारा से अलग कर दिया और पारलौकिक रहस्यो की वस्तु बना दिया। यदि दस वष की आयु के बाद सूत्र रूप मे वद की शिक्षा [अन्या य विषयो के साथ] हमारे किशोर तरुणो को मिलने लगी तो देश की एक पीढी मे ही मनोदशा बदल जायगी। यह शिक्षा पाकर जो युवक जीवन क्षेत्र मे प्रवृत्त होगा वह शकर और विवेकानन्द ही होगा। रोजगार के लिये तो वह दीनात्मा बनकर किसी के सामने हाथ नही पसारेगा।

वेद एक विद्या है। उत्कृष्ट कोटि का विज्ञान ह। ज्ञान और विज्ञान को जिसमे इस प्रकार परिभाषित किया गया है 'एक ज्ञान ज्ञानम् विविध ज्ञान विज्ञानम्'

एक का जानना ज्ञान है और एक को आधार मानकर विविध को जानना ही विज्ञान है। ज्ञान को ही दूसरे शब्दो मे ब्रह्म कहा गया ह और विज्ञान को ही यज्ञ कहा गया है। ब्रह्म और यज्ञ के बारे मे जो धारणायें हमारे यहा बन गई है उन्ही के कारण वेद के विषय मे भी भ्रान्तिया

वनी हुई ह। इसी तरह की भ्रान्तिया पुराणा के बारे मे वनी हुई है परतु हमारे पुराण वेद को जानने की ही कु जी है, कपोल कल्पना नही। दाना का समन्वय ही अग-जग के मम को जानना ह। ज्ञान और विज्ञान दोनो का अजस्र स्रोत वेद ही ह। इसकी शिक्षा प्राप्त कर लेने पर अय सभी विपया मे मनुष्य की गति सहज ही हो जायगी। आधुनिकतम विज्ञान को भी सही दिशा के लिये वेद की ही शरण मे आना होगा।

सवत्सर विद्या और सृष्टि की रचना

जैसाकि मैंने अपने पिछले लेख मे कहा है कि जीव-जगतादि के बारे मे ऐसा कुछ भी नही जिसका ज्ञान वेद महर्षि ने नही कराया। इसी कारण उनके लिए 'विदितवेदितव्या' विशेषण का प्रयोग किया गया है। साथ ही मैंने यह भी लिखा था कि आज विज्ञान के नाम पर जो कुछ हो रहा है वह व्यवसाय और शस्त्र-सचय अधिक हो रहा है।

विज्ञान के नाम पर जो नवीनतम उपक्रम चल रहा है वह अतरिक्ष यात्राओ का है। उपग्रहो के माध्यम से चन्द्र, मगल, बुध, शुक्रादि ग्रहो पर पहुचने का अभियान छिडा हुआ है यह जानने के लिए कि अन्य ग्रहो पर सृष्टि है या नही ? चन्द्रमा पर तो मानव उतर ही चुका है, परन्तु सृष्टि के नाम पर वहा कुछ भी नही मिला। वेद विद्या मे यह स्पष्ट बता दिया गया है कि जो भी सृष्टि है वह भूमि, चन्द्रमा और सूर्य के बीच ही है। अन्य ग्रहो पर कोई सृष्टि नही है। वेद मे चन्द्रमा को भी कृष्ण चन्द्र कहा गया है। सूर्य भी कृष्ण पिण्ड है और अन्य ग्रह भी पिण्ड स्वरूप ही है परन्तु सृष्टि केवल भूपिण्ड पर ही है।

ब्रह्माण्ड और इससे भी परे की जो जानकारी वेद ग्रथो मे है उसके प्रमाण भी है, चूकि यह जानकारी व्यापक विश्व को नही है अत हम विशालकाय दूरबीने लगा लगाकर अतरिक्ष मे ताकझाक करते रहते है तथा उपग्रहो की यात्रा का आयोजन करते रहते है। सृष्टि का तो अन्यत्र कही कोई सकेत या प्रमाण नही मिलता परन्तु इस उद्यम के माध्यम से व्यवसाय और शस्त्र-सचय प्रबल वेग से हो रहा है।

ब्रह्माण्ड के कोने-कोने की जितनी विशद् और विस्तृत जानकारी वेदो ने दी है उसका एक क्षुद्राश भी पाश्चात्य विज्ञानवेत्ताओ के पास नही है। उनके लिए यह कहना उचित होगा कि जो उद्यम वे अतरिक्ष

मे भटकने मे कर रहे है उसका अल्पाश भी वेद विद्या के अध्ययन पर करें तो वे अपना भी कल्याण करग और विश्व का भी।

ज्ञान का केन्द्र, जयपुर

वेदो के विषय मे आज जो ज्ञान उपलब्ध है, उसका भी सर्वोपरि केन्द्र यह जयपुर नगर ही है। महाभारत के बाद वेद-विद्या इस देश मे लुप्तप्राय हो गई थी, परन्तु १९वी और २०वी सदी के सधिकाल मे जयपुर मे एक विभूति का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होने लुप्तप्राय इस ज्ञान का उद्धार किया है। वे थे वेदमूर्ति, समीक्षा चक्रवर्ती महामहोपाध्याय प मधुसूदन ओझा। उन्होने जो सबसे बडा काम किया वह यह कि वेद के विज्ञान पक्ष को उभार कर रखा। लगभग २०० विशाल ग्रथो मे जो काय उन्होने सस्कृत मे किया उसी को आधार मानकर उनके प्रिय शिष्य प मोतीलाल शास्त्री ने हिन्दी मे अनेक विज्ञान ग्रन्थो की रचना की। उनके लिखे हुए दस हजार पृष्ठ तो छपकर प्रकाशित भी हुए है। परन्तु ८०हजार पृष्ठ ज्यो के त्यो लिखे हुए पडे है। मुझे उनके चरणा मे बैठने का बडा सौभाग्य प्राप्त हुआ। परन्तु मेरा दुर्भाग्य यह था कि मैं उनकी विद्या को हृदयगम नही कर पाया। इससे भी बडा दुर्भाग्य यह था कि मात्र ५८ वय की आयु मे उनका स्वर्गवास हो गया। मैं उनके निकट सम्पर्क मे रहकर भी उनकी थाह नही पा सका। थाह ले तो कैसे ? जो व्यक्ति इतनी अल्प आयु मे दस हजार पृष्ठ प्रकाशित कर दे और ८० हजार पृष्ठ लिखकर दे, वह कोई साधारण ज्ञान कुण्ड नही होगा बल्कि विद्या-वारिधि रहा होगा। प मोतीलालजी का यह उद्देश्य था कि हिन्दी के राष्ट्रभाषा बन जाने के बाद वेद-विद्या सर्वसाधारण के लिए उपलब्ध हो जाए।

इसी अभिप्राय से एक बार १९५६ मे उन्होने राष्ट्रपति भवन मे डा राजेन्द्र प्रसाद के समक्ष अनेक विद्वाना की साक्षी मे पाच दिन तक पाच विस्तृत व्याख्यान भी दिये। उन व्याख्यानो का जब प्रकाशन हुआ तो डा राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी प्रस्तावना मे लिखा कि वेदो के बारे मे उनकी धारणा बदल गई। व्याख्याना के अवसर पर मैं स्वय पण्डितजी के साथ जाने वाला था, परन्तु सम्भव नही हुआ। उन व्याख्याना को मैंने पटा अवश्य। अग्निसोम विद्या पर दिये हुये उनके प्रथम व्याख्यान में सवत्सर-विद्या पर प्रकाश डाला है। मैं उस अपनी भाषा मे पाठको की जानकारी के लिय प्रस्तुत करना चाहूगा जिससे यह पता चलेगा कि सृष्टि किस ... से उत्पन्न होती है और इसका स्वरूप क्या है ? हमारे शरीर मे २८

पसलिया क्यो बनी ? हमारे हाथो मे अगुलिया भी पाच ही क्यों ह ? हमारे शरीर की लम्बाई ८४ अगुल ही क्यो है ? इन बातो की जानकारी सृष्टि-प्रक्रिया की जानकारी से स्वत ही हो जाती है। ऋतुए कैसे बनती हैं, यह भी जान सकगे जिससे हमारी अनेक भ्रातिया दूर हो जाएगी।

यह सृष्टि अग्नि और सोम तत्वो के परस्पर यजन से बनी है और सचालित है। यह अग्नि वह नही जो हम नित्य प्रति व्यवहार मे लाते हैं। हमारे व्यवहार का तापधर्मा अग्नि वैश्वानर है। "अह वश्वानरो भूत्वा प्राणिना देहमाश्रित" (गीता) यह सत्यग्नि भी नही है। यह तत्वाग्नि है जो सत्याग्नि के प्रवर्ग्य रूप मे [उच्छिष्ट रूप मे] उत्पन्न होती है और सृष्टि का उपकरण बन जाती है। इसका धमविशेषक्लनात्मक है। इसके विपरीत ऋत सोम तत्व है जो सकोचकारी, अत शीतप्रधान है।

ज्योतिष चक्रात्मक खगोलीय वत भूगोल की तरह विषुव वृत्त के दोनो ओर उत्तर एव दक्षिण ध्रुवो से युक्त दो अर्द्धगोलको मे विभक्त है। विषुवत् के ठीक 90 अश उत्तर मे उत्तरी ध्रुव और 90 अश दक्षिण मे दक्षिणी ध्रुव स्थित है। विषुद्वृत्त के 24 अश उत्तर मे और 24 अश दक्षिण में दोनो मिलाकर 48 अश का एक परिसर या मण्डल है जो सवत्सर नाम से जाना जाता है। 48वें अश की परिधि के साथ ही क्रान्ति वृत्त बना हुआ है जो भूपिण्ड की सूर्य परिक्रमा का मार्ग है। सम्पूर्ण खगाल चक्र 360 अशों का है। यही सक्षेप मे सवत्सर का स्वरूप ह।

सवत्सर के उत्तर भाग मे ऋत सोम तत्व विद्यमान है जो निरन्तर दक्षिण की ओर प्रवहमान है। दक्षिण भाग मे ऋताग्नि प्रतिष्ठित है जो सतत उत्तर की ओर प्रवहमान है। इन दोनो के गमनागमन से ही प्रजोत्पत्ति होती है। ऋताग्नि मे ऋत-साम की आहुति अथवा मेल ही सवत्सर यज्ञ कहलाता है, इसीलिए सवत्सर को प्रजापति भी कहा गया है। चू कि ऋत ग्नि का आगमन दक्षिण से होता है, खेता मे अन्न का परिपाक भी दक्षिण से ही प्रारम्भ होता है और भारतीय कृषक ता फसल की कटाई भी दक्षिण से ही करना शुरु करता है। वह बडा वेदज्ञ है।

ऋताग्नि मे ऋतसोम की आहुति से जो अपूव भाव उत्पन्न होता है उसी को ऋतु कहा गया ह। अग्नि-सोम के इसी पारस्परिक सम्बध से

ऋतु परिवनन होता रहता है। हम लोग सामान्यत छ ऋतुए मानते हैं परन्तु वैज्ञानिक व्यवस्था मे वे पाच ही हैं। सव सर यज्ञ को पचावयव कहा गया है। पच प्राण, पचभूत, पच ज्ञानन्द्रिया, पञ्चकर्मेन्द्रिया, पचागुलि ग्रादि समस्त पचभाव सवत्सर की पचावयव मयी ऋतु मे ही ग्रनुप्राणित ह। हेमन्त और शिशिर ऋतुओं को एक ही-शोतनु माना गया ह। 16-40-16 दिनो के विभाजन स 72 दिनो की एक ऋतु मानी गई है। प्रात स्वन, माध्यन्दिव सवन, साय सवन रूपा तीन याज्ञिक प्रक्रियाओ से क्रमश वाल्यावस्था, युवावस्था एव वद्वावस्था के रूप मे ऋतुए भोग करती हैं। मध्यावस्था के चालीस दिनो को हमारे यहा चिल्ला कहा जाता है। यह प्रत्येक ऋतु की युवावस्था है।

ऋतु परिवर्तन का रहस्य

मान लीजिए ग्रभी ग्रत्यन्त शीत का प्रकोप है। सवत्सर ग्रग्नि से विहीन वन रहा है। सोमात्मक शीतत व के चरम विकास के ग्रनन्तर ग्रग्नि का जन्म हो पडता है। सद्य प्रसूत ग्रग्निकण शीतभावापन्न साम-पटल पर वसने लगते हैं। यही पहिली "वसन्त" ऋतु है, जिसका निवचन है-'यस्मिन् काले ग्रग्निकणा पदार्थेषु वस तो-निवस तो भवन्ति, स काल-वसन्त"। ग्रागे चलकर ग्रग्नि ने ग्रधिक वल से पदार्थों को ग्रहण किया। "यस्मिन् काले ग्रग्निकणा पदार्थान् गृह्णन्ति, स काल ग्रीष्म" निवचन से वही काल "ग्रीष्म' कहलाया। ग्रग्नि और प्रवृद्ध हुग्रा, नि सीम वना, मानो जलाने ही लग पडा पदार्थों को। यही "नितरा दहत्यग्नि पदार्थान"-निवचन से "निदाघ" भी कहलाने लग पडा। निदाघ की चरमावस्था ने ग्रग्निविकास को परावर्तित कर दिया, सकोचावस्था ग्रारम्भ हो पडी। यही सकोचावस्था "वर्षा" कहलाई। ग्रतिशयेन उरु-ग्रग्नि -यस्मिन् काले-निवचन से ग्रग्नि का "उरु" भाव ही वर्षा कहलाया। पाणिनीय व्याकरण ने उरु को 'वष" ग्रादश कर दिया। और या "उरु" शब्द 'वर्षा" रूप मे परिणत हो गया। यों ग्रग्नि ही ग्रपने क्रमिक उद्ग्राभ-चटाव से वसन्त-ग्रीष्म वर्षा इन तीन ऋतुओ मे परिणत हो गया, जिन मे वसन्त वना ग्रग्नि का उपक्रमकाल, ग्रीष्म वना मध्यकाल, वर्षा वना उपसहारकाल। उपक्रम ही ग्राधानकाल था, शान्त ग्रग्नि का, मध्य ही प्रचण्ड काल तथा उग्र ग्रग्नि का ग्रवसान ही गुप्तकाल था, ग्रन्तर्मुख ग्रग्नि का।

ग्रग्नि की तीसरी वर्षा ऋतु को सम्वत्सरवाचक "वर्ष" शब्द मे व्यवहृत किया गया? यह प्रश्नोत्थान कर श्रुति ने उत्तर दिया कि

जब पुरवाई हवा चलती है, तो वर्षाकाल वसन्त की छटा से, ऊष्मा के वेग से यही ग्रीष्म की छटा से, पानी बरसने के अनन्तर यही शरत् की छटा से एव अत्यन्त पानी बरसने के अनन्तर शीत की छटा से यह वर्षा-ऋतु युक्त हो जाती है। स्वय वर्षा तो यह है ही। इस प्रकार-"वर्षात्वेव सवत्सत्व" रूप से क्योकि वर्षाऋतु का भोग हो रहा है अतएव सम्वत्सर वाचक वर्ष नाम से यह ऋतु प्रसिद्ध हो पडी है। प्रापच वर्षा ऋतु मे यदि वर्षा न हो, तो सम्पूर्ण वर्ष ही निस्तत्व बन जाए कृत्यन्न के अभाव मे। वर्ष का वर्षत्व क्योकि वर्षा पर ही अवलम्बित है। इसीलिए भी इस ऋतु को "वर्षा" नाम से व्यवहृत करना प्रकृतिसिद्ध है। क्योकि वर्षाऋतु मे सम्पूर्ण ऋतुओ का भाग है। अतएव भारतीय शास्त्रीय सगीताचार्यो ने वर्षा ऋतु मे सपूर्ण ऋतुओ के रागो का गान विहित मान लिया है।

अग्नि चर्चा समाप्त हुई। अब सोम को लक्ष्य बनाइए। जिस अनुपात से वसन्त मे अग्निकण उपन्ना त बने थे, उसी अनुपात से अब अग्निकण शीण होने लगे। "यस्मिन् काले अग्निकणा शीर्णा भवन्ति स काल ही "शरत्" कहलाया। अग्निकण और हीन बने और सर्दी पडी। अतएव "यस्मिन् काले अग्निकणा हीनता गता भवन्ति, स काल हा "हेमन्त" कहलाया। अन्ततोगत्वा अग्निकण सवथा शीण हो गए, शीत-प्रवतक सोम का ही प्राधा य रह गया। यही "पुन पुनरतिशयेन शीर्णा - अग्निकणा – स काल" हा "शिशिर" कहलाया और यहा आकर अग्नि का निग्राभ-उतार-समाप्त हुआ। वसन्त से अग्नि का जन्म, शरत् से सोम का जन्म। वर्षा पर अग्नि की समाप्ति, शिशिर पर सोम की समाप्ति। अग्नि की चरम विकासावस्था की ही सोम मे परिणति, सोम की चरम सकोचावस्था की ही अग्नि मे परिणति। अग्निसोम के इस परिवतन से ही ऋतुओ का जन्म। ऋतुओ से ही समवत्सर यज्ञ की स्वरूपस्थिति एव यही "अग्नीषोमात्मक जगत" का सक्षिप्त स्वरूप-निदशन, जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत का सचालन हो रहा है। हमारे देश मे शरत् और वसन्त नाम से जो उत्सव होते है, उनका यही वैज्ञानिक महत्व है। ये दोनो उत्सव अग्नि और सोम के गतिचक्र की सधिया हैं।

अर्द्धनारीश्वर की उपासना

अग्नि सामात्मक इसी प्रक्रिया को दाम्पत्य मे भी घटित किया जा सकता है। आप सूर्य की ओर मुख करके खडे हो जाइए। आपका दक्षिण भाग दक्षिण दिशा से और वामभाग वाम दिशा से अनुगत रहेगा।

दक्षिण भाग दक्षिण से आने वाले ऋताग्नि से अग्नि प्रधान बना रहेगा। वामभाग उत्तर दिशा मे आने वाले ऋत सोम मे सोमप्रधान रहेगा। इस प्रकार आपके शरीर मे अग्नि और सोम दोनो का योग होता रहगा। अग्नि ही पुरुषभाव ह और सोम हो स्त्रीभाव है। इस प्रकार हमारे शरीर का दक्षिण भाग पुरुष प्रधान एव वामभाग स्त्री प्रधान है। यही भारतीय विज्ञान की परम्परा मे प्रतिष्ठित शिव-शक्ति रूपक अर्द्धनारीश्वर की उपासना है।

स्त्री और पुरुष दोनो ही खगोलचक्र के दो अर्द्ध गोलको के समान हैं जो एक अग्निप्रधान और एक सामपधान है। परन्तु पुरुष का शुक्र साम प्रधान एव स्त्री का शोणित अग्नि प्रधान है। इन दोनो के शुक्र शोणित सामाग्नि यज्ञ से हो प्रजात्पत्ति का विधान है। सवत्सर के मध्य मे जो विषुव वृत्त है वही इस आध्यात्मिक दाम्पत्य मे मेरुदण्ड है। इस मेरुदण्ड के एक आर २४ अश ही मानव शरीर की 2४ पसलियो का आधार है और दूसरी ओर २४ अश ही मानव के शरीर की २४ पसलिया बनाते है। सवत्सर मे सूर्यस्कम्भ यूप है तो मानव शरीर मे मस्तक यूप है। अधोभाग भूत-पशु भाग है। जो कुछ आधिदविक सवत्सर मे है वही दाम्पत्य रूप अध्यात्म सवत्सर मे भी घटित या निहित है।

अग्नि और सोम दोनो तत्व सहचर ह। विकासशील अग्नि विकास की चरम सीमा पर पहुच कर सोम मे परिणत हो जाता है तो सौम अपने सकोच की चरम सीमा पर पहुच कर अग्नि मे परिणत हो जाताहै। अग्नि अन्नाद [भोक्ता] और सोम अन्न है, परन्तु कभी अग्नि सोम बन कर भाग्य बन जाता है और सोम भी अग्नि बन कर अन्नाद बन जाता है। इसी के आधार पर यह सिद्धा त प्रतिपादित हुआ। "सवमिदमन्नाद सवमिदमन्नम्।"

उपयु क्त विवेचन स यह स्पष्ट हुआ कि ऋतुओ के परिवतन मे सूय की कोई भूमिका नही है आर आधुनिक भूगोल विज्ञान की धारणा मिथ्या है। अग्नि के बारे मे भो आधुनिक इतिहास मे हमे पढाई गई वे बाते मिथ्या हैं जिनमे कहा गया है कि आर्यों का भारत मे बाहर से आगमन हुआ तो उन्होने चकमक रगड कर अग्नि प्रज्वलित की। आर्यो का तो अग्नि का जो ज्ञान था उसकी तुलना मे आज का विज्ञान तो पासग मे भी नही आता। पच महाभूता की जानकारी तो वेद मे अन्यत्र कही है ही। □

विश्व की रचना का वैदिक विज्ञान

विश्व की उत्पत्ति या रचना कैसे हुई ? इस बारे मे वैज्ञानिक अभी तक किसी निष्कष पर नहीं पहुंचे हैं। जो कुछ भी सृष्टि का कारण समझा जा रहा है वह अनुमान के आधार पर समझा जा रहा है। इस पर भी भिन्न भिन्न वैज्ञानिको के भिन्न भिन्न दृष्टिकोण हैं। भारत के दार्शनिक भी इस सम्बन्ध मे एकमत नही है परन्तु वे वेद को प्रमाण अवश्य मानते ह।

वेद-विज्ञान के अनुसार जो विश्व हमारे सामने दृष्टिगोचर है वह पंच-पर्वा है अर्थात पाच विभिन्न विवर्त्तों का समष्टि है। इन पाच पर्वों की रचना इस प्रकार है। सर्वोच्च स्थान स्वयभू-लोक का माना गया है। दूसरा लोक परमेष्ठि ह, तीसरा और मध्य स्थान सूय का, चौथा भू पिण्ड और पाचवा चन्द्रमा है। चद्रमा पर इस विश्व का अवसान है अत उसे 'निधन' कहा गया ह। स्वयभू चू कि सृष्टि का मूल स्रोत माना गया है अत वह स्थिर है उसे प्रजापति, ब्रह्म, विश्वकर्मा, सत्य आदि कितने ही नाम दिए गए हैं। इन्ही पाच पर्वो को ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम भी कहा जाता है।

अश्वत्थ वृक्ष

वेद की एक स्थापना यह भी है कि यह जो पचपर्वा विश्व हम देख रहे हैं वह अश्वत्थ रूपी महान्वृक्ष की एक टहनी मात्र है जिसके पाच पव [पोर] विश्व के पाच पव है। वह अश्वत्थ वृक्ष इतना विशाल है कि उसमे हमारे विश्व के समान सहस्त्रो विश्व विद्यमान है और उनके मूल का कोई विवरण-चित्रण पार्थिव शब्दो मे नही किया जा सकता और साधारण मनुष्य उसे बुद्धि से जान भी नही सकता। योगी ही उसे दिव्य दृष्टि से जान सकते है।

हमारे विश्व के आधारभूत स्वयभू को वेद ने परमाकाश की सज्ञा दी भी है जिसके गभ मे परमेष्ठी सूय, पृथ्वी और चद्रमा कन्दुकवत

समाये हुए हैं, सूय के गभ मे पृथ्वी एव चन्द्रमा तथा पृथ्वी के गर्भ मे चन्द्रमा स्थित है। भूपिण्ड और पृथ्वी एक नही है, अपितु पृथ्वी तो भूपिण्ड का मण्डल है जा भूपिण्ड से लेकर सूर्य के ऊपर तक विस्तृत है। चन्द्रमा, पृथ्वी आदि सभी ग्रहा के अपने अपने मण्डल हैं और प्रत्येक छोटा ग्रह अपने से वडे ग्रह की परिक्रमा कर रहा है। चन्द्रमा जिस मार्ग पर भूपिण्ड की परिक्रमा कर रहा है उस माग को दक्षवृत्त कहा गया है। भूपिण्ड सूय की परिकमा क्रान्तिवृत्त पर करता है तो सूय अन्य वृत्त पर परमेष्ठि लाक की परिक्रमा करता है और आनन्द वृत्त पर परमेष्ठि स्वयभू की परिक्रमा करता रहता है। स्वयभू स्वय परमाकाश के रूप मे स्थिर है। स्वयभ का प्राणों का लोक कहा गया है। ये ऋषि प्राण कहलाए गए है। इन्हे सत भी कहा गया है असत् भी, असत् का अथ यहा विशुद्ध सत्य है। प्राण मे अन्य कोई तत्व नही होता इसलिए उन्ह असत् भी कहा गया है। ऋषियो क नाम से हम वशिष्ठ, भृगु, विश्वामित्र, अगिरा, भारद्वाज आदि जो नाम जानते है वे सब प्राणो के ही नाम हैं और जिन नर श्रष्ठो ने इन प्राणा का ज्ञान सचय किया वे उन्ही प्राणो के नाम से ऋषि कहलाए है। हमारी सृष्टि के मूल मे इन्ही ऋषि प्राणो की हलचल है। हलचल के कारण ही इन प्राणा का ऋषि कहा गया है। ये प्राण गतिशील है जिनके लिये कहा गया है "ऋपति, गच्छति, गतिशीलो भवति"।

स्वयभू की परिकमा करने वाले सभी पिण्डो और मण्डलो के विशिष्ट नाम बताए गए है। चन्द्रमा पर ज्योति पिण्ड है और इसके मण्डल को चन्द्रिका मण्डल कहा गया है, भूपिण्ड रूप-ज्योति पिण्ड कहा गया है और इसके मण्डल का रथन्तर साम मण्डल कहा गया है सूय को स्वज्योति पिण्ड कहा गया है और उसका मण्डल वहत साम मण्डल है, परमेष्ठि को ऋतपिण्ड और इसके मण्डल को सरस्वान कहा गया है। स्वयभू को ज्योतिपा ज्योति कहा गया है। इसी को सत्यस्य सत्यम् भी कहा गया है।

उपयु क्त पाचो पर्वों के सृष्टि-विद्या के चयन को तीन धामा मे विभक्त माना गया है। स्वयभू एव परमेष्ठि को समष्ठि को परम धाम कहा गया है। सूय को मध्य धाम एव भूपिण्ड तथा चद्रमा को अवमधाम कहा गया है। परम धाम को विश्व का शीप, मध्य धाम को उर एव अवधधाम को पाद कहा गया है और इन तीनो ही धामा का आधार बना कर सृष्टि का निरूपण करने के लिए सृष्टि मूला, स्थिति मूला और सृष्टि

म्ला नाम से तीन विद्यायें बताई गई है जिनसे प्रत्येक धाम की विशद जानकारी मिलती है। पचपर्वा विश्व की जानकारी देने वाली विद्या को पुण्डीर विद्या कहा गया है। पुण्डीर का अर्थ लोकभाषा मे पौर या पौरे है।

सृष्टि की जानकारी देने वाली वैदिक विद्याओ मे बताया गया है कि इस विश्व के आदि के केवल सत् [स्वयभू] एव ऋत [परमेष्ठि] लोक ही थे। स्मरण रहे कि ये हमारे सामने व्यक्त विश्व के आदि स्वरूप ह परन्तु इन सभी का आधारभूत जो विशाल अश्वत्थ वृक्ष है, उसकी तो एक टहनी के पौर मात्र ही है। आदि स्वरूप परमेष्ठी ने स्वयभू को अपना आधार बनाया। ऋतपरमेष्ठी से सर्वप्रथम आपोमयी वारुणी रात्रि का विकास हुआ। इसे वेद मे 'अम्भोवाद' कहा गया है। इसी आधार पर "सवमापोमय जगत्" सिद्धान्त स्थापित हुआ। अर्थात यह सम्पूण जगत् अपोमय है। इसी अपोमयी रात्रि से आगे चलकर पार्थिव रूप मे अणव समुद्र व्यक्त हुआ। स्वयभू को नभस्वान और परमेष्ठि को सरस्वान समुद्र कहा गया है परन्तु यह जो अणव समुद्र प्रकट हुआ है आगे चलकर पार्थिव सृष्टि का उपादान बनता है। अणव समुद्र के गर्भ मे अग्नि विद्यमान है जा अगिरा नाम की प्राणाग्नि के नाम से जानी गई है। इसी से एक अग्नि मण्डल का निर्माण होता है। यही अग्नि मण्डल अपनी क्रियाशीलता के कारण सवत्सर बनता है और दो भागो मे विभक्त हो जाता है जो अह रूप अग्नि एव रात्रि रूप सोम बन जाते ह। पजीभूत अहरग्नि सूय का रूप धारण करता है और पजीभूत रात्रि सोम चद्रमा बन जाता है। मूल के दो तत्व सत् एव ऋत जिनके आधार स्वयभू एव परमेष्ठी लोक है आगे चलकर अग्नि-सोम और अन्तत सूय एव चन्द्रमा मे व्यक्त हो जाते है परन्तु इनका सचरण निरन्तर होता रहता है। इन्ही से आगे चलकर पार्थिव सृष्टि की रचना होती है।

भूपिण्ड कसे बना ?

वेद विद्या के अनुसार जब भूपिण्ड का निर्माण नही हुआ था, सवत्र 'अणव' नामक क्षार समुद्र फैला हुआ था[1]। अर्णव समुद्र मे वायु के प्रवेश से बुद्बुद पैदा हुए और वायु सौरतेज एव अप् के निरन्तर प्रहार से बुद्बुद

1 ऋ० वे० 10 190 1, तै० ब्रा० 10 1 13,

फेन रूप मे परिणत हो गये। इस फेन ने अप्, वायु सौरतेज के सयोग मिश्रण या आघात या प्रत्याघात से मृत का रूप धारण कर लिया अर्थात ये मृत्तिका बन गए। मृत्तिका आगे चलकर चिकनी मिट्टी बन जाती है। सिकता ने शकरा अर्थात बालू रेत का रूप धारण किया शकरा की प्रभूत मात्रा मे मे अश्मा अर्थात पाषाण निर्मित हुआ। अश्मा से अय अर्थात लौह बना, अय रूपी इस घन द्रव्य से हिरण्य अर्थात ताम्र, रजत स्वण, सीसक आदि नितान्त घन द्रव्य बन गए। इस प्रकार इस प्रक्रिया के निरन्तर चलते रहने से भूपिण्ड का निर्माण हुआ। आप धेनु मृत, सिकता, शकरा, अश्मा, अय और हिरण्य इन आठ चक्र धाराओं से इस भूरूपा पृथ्वी का निर्माण होने के कारण पृथ्वी अष्टाक्षरा या अष्टावयवा गायत्री कहलाई। पुराणो म इसी को भगवान ब्रह्मा की पुत्री कहा गया है जिनके दाम्पत्य से ब्रह्मा इस पार्थिव यज्ञ का सपादन कर पाए। कहते हैं पृथ्वी की रचना करने के श्रम मे तुष्ट से होकर ब्रह्मा ने जो मधुर स्वर अलापा, उसी कारण पृथ्वी को गायत्री नाम दिया गया और यह आठ क्रियाओं से सपन्न हुई अत अष्टाक्षरा बनी।

गायत्री का मानव के पार्थिव शरीर से भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। गायत्री छन्द का प्रत्येक अक्षर एक प्राण का प्रतीक है और इस अक्षर का परिमाण प्रादेश माना जाता है। प्रत्येक प्रादेश का माप साढे दस अगुलि का बताया गया है। यह अगुलि परिमाण वास्तुगत होता है। मनुष्य की अगुलि का माप एक है तो स्वयभू सूय या परमेष्ठि के शरीर की अगुलि का माप भी एक है। गायत्री मत्र के अक्षरो का माप भौउस के छन्द प्रादेश के अनुसार साढे दस अगुलिका माना गया है। इस तरह आठ अक्षरो के माप का कुल योग ८४ अगुल है गायत्री मत्र की लम्बाई इस तरह ८४ अगुलि है है। मनुष्य के शरीर मे भी गायत्री मत्र के आठो अक्षरो या प्राणो की व्याप्ति है। चूकि गायत्री की लम्बाई उसके पैमाने से ८४ अगुलि है अत मनुष्य के शरीर का माप भी उसकी अपनी अगुलियो से मापने पर ८४ अगुलिका होता है। नवजात शिशु की अगुलियो से नापें तो उसके शरीर का माप भी ८४ अगुलिका होगा। और वयस्क शरीर का माप भी उसी तरह ८४ अगुलि का होगा यदि इस माप मे ५-७ अगुलि का अन्तर पड जाय तो समझिये कि कोई प्रकृति दोष है या दाम्पत्य दोष है वरना यह माप अटल सत्य है। अपने शरीर को माप कर देख लें।

सत्य और ऋत

ऊपर मैंने सृष्टि की रचना के वैदिक स्वरूप का सक्षिप्त विवरण दिया है। अब जरा सत्य एव ऋत पर विचार कर लिया जाय जो सृष्टि के मूल मे विद्यमान है। वेद विज्ञान मे सत्य की जो परिभाषा है वह हमारे दैनिक व्यवहार मे आने वाली नैतिक परिभाषा से सर्वथा भिन्न है। वह वैज्ञानिक परिभाषा है। "सहृदय-सशरीर-सत्यम्" अर्थात जिस वस्तु का एक केन्द्र हो और पिण्ड हो वह सत्य है। सत्य का स्वरूप शरीर एव हृदय मिलकर बनता है। हृदय शब्द यहा कॅद्र का परिचायक है न कि शरीर मे रक्त को शोधन करने वाला यन्त्र। ऋत की परिभाषा है "अहृदय अशरीर ऋतम्" अर्थात जिस पदार्थ का कोई कॅद्र भी न हो और पिण्ड स्वरूप भी न हो उसे ऋत कहा गया है और जिस वस्तु का एक आकार, शरीर या पिण्ड हो परन्तु कॅद्र या हृदय न हो, उसे ऋतसत्य कहा गया है। लौह पाषाण, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, भूपिण्ड आदि सभी सत्य हैं। इनके शरीर भी हैं और केन्द्र भी है। इस सत्य की पहिचान यह बताई गई है कि सकेंद्र पिण्ड के किसी एक अश को पकडकर खीचो तो सपूर्ण वस्तु खिंची चली आती है। ऋत का कोई शरीर और केन्द्र नही होता, अतएव उसे न पकडा जा सकता है और न खीचा जा सकता है। प्राण, वायु, सोम, आप इत्यादि सभी ऋत है। कर्पूर, राल, पारद, अभ्रक, गन्धक, मेघ आदि ऋत-सत्य पदार्थ है जिनके शरीर या पिण्ड तो है परन्तु हृदय या कॅद्र नही अत उनके किसी एक अ श का पकडकर खीचते है तो एक टुकडा ही हाथ आता है, शेष अलग रह जाता है।

सत्य और ऋत के स्वरूप विश्लेषण मे हृदय शब्द का बार-बार उल्लेख हुआ है। वैदिक विज्ञान मे इसका जो स्वरूप बताया गया है उस पर भी विचार करना उपयोगी सिद्ध होगा यह शब्द "हृदयम्" जो "हृ"-द-यम् मे विभक्त होकर अपने अर्थ को स्वय प्रकट करता है। "हृ" शब्द सस्कृत म आहरण या आदान वाचक है और "द" शब्द प्रदान अथवा विसर्ग का द्योतक बना हुआ है तथा "यम्" का अर्थ है नियमन करना। आदान-विसर्ग और नियमन ही हृदय का वास्तविक स्वरूप है। इसी को आगति-गति और स्थिति कहा जा सकता है। कॅद्र से परिधि की ओर जाना गति है और परिधि से कॅद्र की ओर जाना आगति है तथा जिस बिन्दु पर आगति या गति का विराम होता है वह स्थिति या नियमन कहलाएगा।

सृष्टि के सम्पूर्ण कार्यकलाप का स्वरूप यही आदान विसर्ग एवं नियमन रूपी हृदय है जो प्रत्येक पदार्थ या वस्तु के केंद्र में स्थित है। यह केंद्र अतीव सूक्ष्म और सूक्ष्माति सूक्ष्म है अन इसे अन्त शब्द से परिभाषित किया गया है। इसी को अन्तर्यामी और प्रजापति भी कहा गया है। हृच्छक्ति ही। मूलशक्ति है जिसे शब्दों से नहीं बताया जा सकता है, बल्कि व्यवहार के लिए अन्त जैसा कोई शब्द दे दिया गया है। यह सब व्यापित्व या शक्ति है।

भौतिक पिण्ड बदलते रहते हैं। यही परिवर्तन उत्पत्ति भाव है, सृष्टि भाव है। प्राण, अमूत, अभौतिक हृदय कभी नहीं बदलता अत इसे अजायमान कहा गया है। पिण्ड स्वरूप संपूर्ण भौतिक पदार्थ इस हृच्छक्ति से ही उत्पन्न एवं परिवर्तनशील बने रहते हैं। कैसे पहिचाना जाय इस शक्ति को ? वेद कहते हैं कि धीर एवं प्रज्ञाशील जन अपनी प्रज्ञा से ही इस कद्र शक्ति की पहिचान कर लेते हैं। इसे विज्ञान बुद्धि जान सकती है। स्थूल मापदण्ड से इसका आभास अवश्य किया जा सकता है। उदाहरण के लिए एक छड़ी को अंगुलि पर लिटाकर देखें। जिस बिन्दु पर छड़ी का चंचल भाव या हिलना डुलना बन्द हो जाए वही केंद्र है। यह केंद्र प्रत्येक पिण्ड में है और प्रत्येक पिण्ड में विश्व के सभी भुवनों का निवास है। क्योंकि प्रत्येक पिण्ड में वही सब तत्व हैं जो विश्व ब्रह्माण्ड में है या प्रत्येक पिण्ड इसी ब्रह्माण्ड का अंश है। इसी को ईशोपनिषत् में कहा गया है —

पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

—❀□❀—
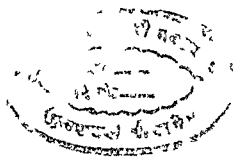
अन्न और यज्ञ का स्वरूप-परिचय

वेद शास्त्रो मे अन्न को बडे व्यापक दृष्टिकोण से देखा गया है। अन्न के प्रसग मे श्रुति व्यवस्था है "सर्वमिदमन्नाद सर्वमिदमन्नम्" अन्नाद का अर्थ है ग्रहण करने वाला, खाने वाला इस श्रुति का अर्थ हैं कि सभी कुछ अन्न है और सभी कुछ अन्नाद है। जिसका जिससे निर्वाह होता है वही अन्न है जैसे आकाश का अन्न शब्द है। वेद मे अन्न का बडे विस्तार से वर्णन मिलता है।

जिस अन्न को हम खाते है उसकी भी वेद ने बडी विशद समीक्षा की है। अन्न ग्रहण और उससे बनने वाला हमारे पार्थिव एव आध्यात्मिक शरीर को वेद ने यज्ञ की सज्ञा दी है। हमारे शरीर मे अन्न, उक और प्राण के रूप मे अन्न का समावेश या सचार होता है। अन्न का आहार ग्रहण करने से लेकर मन के भीतर अन्न-यज्ञ किस तरह सम्पन्न होता है इसका रूप देखिए।

हमे अमुक समय अशनाया लक्षण भूख लगी और उसे शान्त करने के लिए हमने अन्न ग्रहण किया। जठराग्निरूप वैश्वानर जो हमारे उदर मे अवस्थित है, उसमे अन्न की आहुति हो गई। यही से यज्ञ प्रक्रिया चालू हो गई। अग्नि के सहज सिद्ध विशकलन धर्म से यह अन्न रस रूप मे परिवर्तित हो गया और अग्नि ने मल भाग को पृथक् कर दिया इस प्रकार भुक्त अन्न रस और मल के रूप मे विभक्त हो गया। मल का त्याग करके शरीर से बाहर कर दिया गया। रस मे पुन, विशकलन या रासायनिक प्रक्रिया चालू रही और उसी रस मे से असृक [रक्त] बना और रस को रक्त का मल मान लिया गया। असृक मे फिर विशकलन चालू हुआ और उससे जो द्रव्य उत्पन्न हुआ, वह मास बना तथा रुधिर मास का मल बना। मास मे पुन विशकलन चालू रहा जिससे मेद बना और मास मेद का मल हो गया। मेद

मे अग्रतर रासायनिक क्रिया से अस्थि का निर्माण हुआ और मेद अस्थि का मल बन गया । अस्थि मे पुन वही क्रिया चालू हुई और मज्जा का निर्माण हुआ । अस्थि मज्जा का मल बनी रहा । मज्जा मे पुन वही क्रिया चालू रही तो शुक्र बना और मज्जा शुक्र का मल बन गई इस प्रकार अन्न का पार्थिव भाग है उससे पार्थिव शरीर के विभिन्न अवयवो का निर्माण होता रहा और आगे वाले पदार्थ ने पिछले पदार्थ का मल के रूप मे त्याग दिया, परन्तु अन्न की विशकलन प्रक्रिया यही समाप्त नही हुई । अन्न मे पृथ्वी के अतिरिक्त अन्तरिक्ष या वायु का भी एक अश होता है और सूर्य का अथवा द्यौ का भी । अन्न का निर्माण जिन-जिन तत्वो से हुआ वे सभी तत्व शरीर मे भिन्न-भिन्न प्रकार रूप से पहुचते हैं ।

अन्न के निर्माण मे पृथ्वी अन्तरिक्ष एव द्यौ, इन तीनो तत्वो का योग रहता है जिनके सघन, तरल, और विरल रूप माने गए है । शुक्र तक जिस रासायनिक अन्न यज्ञ का क्रम जारी रहता है वह सघन भाग है जो पृथ्वी से सम्बन्ध रखता है, अभी तरल और विरल रूप मे अन्न के दो अश शेष है ।

विशकलन प्रक्रिया

शुक्र मे पुन विशकलन प्रक्रिया चालू हुई तो,उससे ओज का निर्माण हुआ और शुक्र ओज का मल बन गया । इस ओज को ही उक कहा गया है । ओज मे फिर मन्थन चालू होता है और उससे जो तत्व प्राप्त होता है उसे सोम कहा गया है जो ओज के मल के रूप मे त्याग कर उत्पन्न होता है । इसे शिवतम रस भी कहा गया है इसी से हमारे मन का निर्माण होता है । यही प्राण भी कहलाता है । शरीर मे अन्न की व्याप्ति का जो विधान ऊपर बताया गया है उससे यह लोक श्रुति चल पडी है जैसा खाये अन्न वैसा बने मन । जैसी हमारे मन की दशा या अवस्था होती है वैसी ही हमारी क्रियाए सचालित होती ह । इसीलिए गीता मे आहार-विहार पर बडा जोर दिया गया ह । भारतीय आचार शास्त्र मे, नीति शास्त्र मे या दर्शन की क्रियान्विति मे इसी पृष्टभूमि मे अन्न को अथवा आहार का अतीव महत्व दिया गया है । प्रजापति मनु ने तो अन्न दोप को ब्राह्मण की जीवित मृत्यु तक कह दिया ह । अन्न की जो रासायनिक क्रिया ऊपर बताई गई ह, उससे यह लक्षित भी होता ह कि वह हमारे शरीर और मन की किस तरह [illegible] करता है और उसका हमारे जीवन मे क्या अर्थ ह ।

पार्थिव सप्त धातुओं की विधिवत् प्रक्रिया ने मानव को शरीर का स्वास्थ्य प्रदान किया, ओज ने ओजस्विता प्रदान की एवं शिव संकल्पात्मक मन ने मनस्विता प्रदान की। बलिष्ठ, ओजिष्ठ एवं महिष्ठ मानव का यह आध्यात्मिक यज्ञ अन्न-उर्क-प्राण रूप सप्त धातु एवं ओज मन के धारावाहिक क्रम में सुव्यवस्थित बना हुआ है वही आध्यात्मिक यज्ञ की स्वरूप व्याख्या है।

अन्न को वेद विज्ञान में सोम कहा गया है और अग्नि में उसकी आहुति होने से ही हमारा शरीर यज्ञ चलता रहता है। इस सोमान्न को ऋषियों ने चार भागों में विभक्त किया है जो दधि, घृत, मधु एवं अमृत है। जिस अन्न में ये चारों तत्व समाविष्ट है वही मानवीय रुद्राग्नि का या जठराग्नि का अन्न माना गया है। कच्चे अन्न को मानवीय उपयोग का अन्न नहीं माना गया है, बल्कि कच्चे अन्न का दूध जब पक जाता है तभी वह खाने योग्य है। आटे में जो चापड या कण भाग है उसे दधि कहा गया है और उसी से हमारे अस्थि-मांसादि घन भागों की रचना होती है। यह कण भाग अन्न में पृथ्वी से बनता है अतएव शरीर के भी कठोर भाग की रचना वही करता है। आटा गोंदने पर उसमें जो लोच उत्पन्न होता है वह अन्न का घृत भाग है वह हमारे शरीर को स्निग्धता या चिकनाई प्रदान है और अन्न में इसका निर्माण आंतरिक्ष्य वायु से होता है। अन्न का तीसरा भाग मधु है। मधु वह प्राण है जो ब्रह्माण्ड में चान्द्रनाडी के द्वारा भरणी नक्षत्र में बरसता है। सूर्य जब भरणी नक्षत्र पर आता है तो मधु वर्षण प्रारम्भ होता है। यह चैत्र का महीना होता है और इसी को मधुमास भी कहा जाता है। इस मास में चेतन एवं अर्द्ध चेतन सृष्टि [औषधि, वनस्पति] आदि में माध्वी छटा प्रगट होती है। मधु की प्रभूत मात्रा में वर्षा करने के कारण ही भरणी नक्षत्र को मधुछत्र भी कहा जाता है। यद्यपि मधु रस का वर्षण भरणी नक्षत्र में अधिक होता है, परन्तु वह सामान्य रूप में भूमण्डल में सदैव व्याप्त रहता है। यही मधु हमारे अन्न का भी एक भाग होता है। प्रत्येक अन्न में एक मिठास होता है वही मधु है। आंतरिक्ष्य घृत से मानव के रक्त मज्जादि तरल पदार्थों का सिंचन-पोषण होता है तो सौर दिव्य मधु से मानव के तरल शुक्र का पोषण होता है। इसीलिए शुक्र को मधु भी कहा गया है और शुक्र क्षय को मधुमेह नामक रोग भी कहा जाता है।

अन्न का चतुर्थ अंश है अमृत जिसे सोम भी कहा जाता है। इसका स्रोत सूर्य से ऊपर परमेष्ठि लोक है। यह बड़ा विलक्षण तत्व है। यही वह शिवतम सोमरस है जिससे हमारे मन का पोषण होता है। सभी औषधियों में सोमरस की मात्रा रहती है। वायु में व्याप्त इन्द्र प्राण सभी पदार्थों से सोम रस का ग्रहण या पान करते रहते हैं इसलिए हमारे यहां बासी भोजन न करने की प्रथा है। पके हुए भोजन के पड़े रहने पर उसका सोम तत्व वायु के द्वारा इन्द्रप्राण सोख जाते हैं। चावल एक ऐसा अन्न है जिसमें इन्द्रप्राण का प्रवेश नहीं है। वह वरुण प्रधान है। इसीलिए चावल को अक्षत भी कहा गया है। अन्य सभी अन्न इन्द्र प्राण के द्वारा क्षत होते रहते हैं। परन्तु चावल नहीं होता है। कई बार हमें ऐसा लगता है कि भोजन तो कर लिया किन्तु स्वाद नहीं। पेट तो भर गया किन्तु मन नहीं भरा। इसी सोम तत्व का अभाव है।

यज्ञ का स्वरूप

अन्न के प्रसंग में यह चर्चा मैंने इसलिए छेड़ी है कि सर्वसाधारण के दैनिक जीवन की छोटी-छोटी बातों में वेद विद्या की जो भूमिका है वह प्रगट में आये। वेद के बारे में हमारे शिक्षित साहब लोगों ने तरह-तरह की भ्रान्तियां फैला रखी हैं और कर्मकाण्डी पंडितों ने उसको अग्नि होत्र [यज्ञ] कर्मकाण्ड, बलि, दान दक्षिणादि का साधन मात्र बनाकर प्रस्तुत कर रखा है। वास्तव में वेद मानव सृष्टि का सर्वांगीण विज्ञान है जिसके बाहर कोई ज्ञान-विज्ञान शेष नहीं रहता। मैं आह्वान और आमंत्रण करना चाहता हूं आधुनिक विज्ञान के वेत्ताओं का कि वे इस मौलिक विज्ञान पर तनिक ध्यान दें और अपना और अपनी जाति का उपकार करें। मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूं कि उनके ज्ञान में वृद्धि होगी। वेद विज्ञान ही है उसमें विज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। यदि हम वेद को अन्य कुछ समझते हैं या रहस्यमयी वस्तु समझते हैं या कर्मकाण्ड का साधन समझते है तो यह हमारा अज्ञान ही है।

वैदिक विज्ञान में यज्ञ का जो स्वरूप माना गया है वह केवल आग जलाकर घी फूंकना नहीं है, बल्कि यज्ञ का उसमें वही महत्व है जो भौतिक विज्ञान में प्रयोगशाला का है। इससे भी एक कदम आगे बढ़कर उसकी एक उपादेयता यह है कि यज्ञ के द्वारा वेद-विज्ञान की प्रकृति को तिकूलता को अनुकूल बना लेता है। वैदिक विज्ञान का एक पक्ष यह भी

है कि वह मनुष्य को उसके उद्गम से सम्पृक्त कर देता है। वेद की मान्यता है कि पिण्ड का जो स्वरूप निर्माण होता है वह ब्रह्माण्ड के ही द्वारा ही होता है। जो पिण्ड मे है वही ब्रह्माण्ड मे है। यज्ञ के द्वारा वेद ब्रह्माण्ड के उन तत्वो का साक्षात्कार अनुष्ठान द्वारा कर लेता है अर्थात हमारे आध्यात्मिक तन को अधिदैविक सृष्टि के साथ उसका तारतम्य विठा देता है। महामहोपाध्याय प गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने शथपथब्राह्मण के ग्यारहवे काण्ड मे चतुर्थ अध्याय के एक आख्यान का उल्लेख किया है जिसे उदाहरण के लिए प्रस्तुत करना चाहू गा। गिरधरजी महाराज जयपुर के सस्कृत कालेज के विख्यात विद्वान और वेदमूर्ति मधुसूदनजी ओझा के परम शिष्य थे।

कुरु पाचाल [देहली और कन्नोज के मध्य] देश से अरुण के पुत्र उद्दालक ऋषि किसी यज्ञ मे निमन्त्रित किए गए। "उदीच्य पश्चिमोत्तर" इस वाक्य के अनुसार कश्मीर प्रान्त ही उदीच्य हो, ऐसा अनुमानत प्रतीत होता है। उद्दालक ऋषि के सामने निष्क नामक सुवण का सिक्का रखा गया, जो यज्ञ मे मुख्य विद्वानो को भेंट दिया जाता था। इस पर उदोच्य देश के ब्राह्मणो ने विचार किया कि यह कुरु पाचाल देश का विद्वान स्वय ब्रह्मा और ब्रह्मा का पुत्र है [यज्ञ का प्रधान निरीक्षक ब्रह्मा कहलाता है]। यह यदि अपनी दक्षिणा मे से आधा द्रव्य हमे न दे तो क्या हम वाद [शास्त्र विचार] के लिए इसका आह्वान कर सकते हैं ? परन्तु इस प्रकार वाद के लिए चुनौती तभी दी जा सकती है, जब हमारी ओर भी कोई इस कोटि का विद्वान हो। ऐसा प्रगल्भ विद्वान हमारी ओर से कौन हो सकता है ? अन्त मे, विचार से यह स्थिर हुआ कि शौनक गोत्र के "स्वैदायन" इस कार्य के उपयुक्त हैं। उद्दालक से प्राथना की गई कि महाशय ! आप को अग्रसर बनाकर हम उद्दालक से शास्त्राथ करना चाहते है। इस पर स्वैदायन ने उन्हे अश्वासन दिया और कहा कि म पहिले इनकी विद्वत्ता का पता लगा लेता हू कि वेदशास्त्र मे इनकी गति कहा तक है ? उसके उपरान्त वाद के लिए प्रस्तुत हो सकू गा। इतना कहकर स्वैदायन यज्ञ मण्डप की ओर गये। परस्पर परिचय के अनन्तर स्वैदायन ने प्रश्न करना आरभ किया। [1] गौतम पुत्र ! वही पुरुष यज्ञ मे वृत होकर जाने का अधिकारी है जो दशपौणमास यज्ञ की उस क्रिया को जानता हो, जिसके कारण सम्पूण प्रजा विना दात की पैदा हाती है ? जिसके कारण फिर सबके दात पदा होते है ? जिस कारण वे टूटकर फिर जम जाते है, और

जिस कारण अन्तिम अवस्था मे फिर सब दात गिर जाते हैं ? क्यो पहिले नीचे दात पैदा होते है फिर ऊपर के ? क्यों नीचे के छोट होते हैं और ऊपर के विस्तृत ? क्यो दष्ट्राए [दाढे] फली हुई होती हैं और जवड समान ? इन बातो का दशपौणमास यज्ञ से सम्बन्ध जानना यज्ञ करान के लिए आवश्यक है।

[2] गौतम पुत्र ! यज्ञ मे वरण पाने का वही अधिकारी है जो दश-पौणमास यज्ञ की उस क्रिया को जानता है जिससे सब प्रजा लोमश [रोम वाली] पैदा होती है। जिस कारण आगे सबके श्मश्रु [दाढो मूछ] भी निकलती है, जिस कारण पहले सिर के केश श्वेत होते हैं और अन्तिम अवस्था मे सभी बाल पक जाते है।

[3] यज्ञ करने वालों को यह ज्ञान भी आवश्यक है कि दर्शपौणमास यज्ञ की किस क्रिया के अनुसार कुमार अवस्था तक वीय मे सेचन की शक्ति नही होती ? क्या युवावस्था मे हो जाती है ? और, अन्तिम अवस्था मे वह क्यो नष्ट हो जाती है ?

उद्दालक ने यह सब प्रश्न सुनते ही अपना निष्क स्वैदायन के सामने रख दिया। उन्होंने निवेदन किया कि "स्वैदायन ! आप अधिक वेदवक्ता है। सुवर्ण जानने वाले को ही मिलना चाहिए" इस पर स्वदायन उद्दालक से गले मिलकर यज्ञ भूमि से चले गए। ब्राह्मणो ने पूछा—स्वदायन ! गौतम पुत्र को आपने देखा ? कसा है ?

स्वदायन ने उत्तर दिया—जैसा ब्रह्मा का पुत्र और ब्रह्मा होना चाहिए, वैसा ही उद्दालक है। इसके सामने जो खडा होगा उसका सिर अवश्य झुकेगा। ब्राह्मण लोग निराश होकर चले गए।

कुछ समय के अनन्तर उद्दालक समिधा हाथ मे लेकर स्वदायन के समीप पहुचे और कहा—भगवन् ! मै आपका शिष्य होकर आया हू। स्वैदायन ने पूछा—आप मुझसे किस विषय का अध्ययन करना चाहते हैं। उद्दालक कहने लगे—जो प्रश्न आपने यज्ञ मण्डप मे मुझसे किए थे, उन्ही का उत्तर समझा दीजिए। स्वैदायन कहने लगे-उद्दालक ! मुझे आपके शिष्यत्व को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नही। मैं आपको उन [illegible]का उत्तर समझा देता हू।

[1] प्रयाजो मे पुरोनुवाक्या [ग्राहुति से पहले पढने की ऋचा] नही होती, इसी से सारी प्रजा बिना दात की पैदा होती है। ग्रागे हवि मे पुरोनुवाक्या होती है, इससे सबके दात निकल ग्राते हैं। फिर ग्रनुयाजो मे पुरोनुवाक्या नही होती इससे प्रजाजनो के दात टूट जाते है। फिर, पत्नी–सयाज मे ग्रनुवाक्या होता है, इससे सभी के दात फिर दृढ होते है। ग्रन्त के समिष्ट यजु मे फिर पुरोनुवाक्या नही होती इसलिए ग्रन्तिम ग्रवस्था मे सभी के सभी दात टूट जाते हैं। पहिले ग्रनुवाक्या पढकर फिर याज्या [होम समय की ऋचा] से यजन किया जाता है ग्रत सबके दात पहिले नीचे निकलते है, बाद मे ऊपर। ग्रनुवाक्या गायत्री है ग्रौर याज्या त्रिष्टुप, त्रिष्टुप से गायत्री छोटी होती है, इसलिए नीचे के दात ऊपरवाला से छोटे होते हैं। सबसे पहले ग्राघार किया जाता है, इससे दष्ट्रा फली हुई होती है सयाज मे समान छन्द रहते हैं, इससे जबडे समान रहते हैं।

[2] क्योकि यज्ञ मे कुशाग्रो का ग्रास्तरण [बिछौना] किया जाता है, इसी कारण सारी प्रजा लोमयुक्त होती है। कुशमुष्टि का फिर भी ग्रास्तरण होता है, इससे प्रजाग्रो के श्मश्रु रूप केश पैदा होते हे। पहिले केवल कुशमुष्टि पर प्रहरण किया जाता है, इसलिए सिर के केश ही पहिले श्वेत होते हैं। ग्रागे सारी कुशाग्रो पर प्रहरण होता है, इसलिए चरम ग्रवस्था मे सभी केश श्वेत हो जाते है।

[3] प्रयाजो मे हवि रूप से केवल ग्राज्य [घृत] का उपयोग होता है, इसलिए कुमार के वीर्य मे गभ उत्पन्न करने की शक्ति नही होती, क्योकि घृत जल के हो समान है। दशपौर्णमास के मध्य मे दधि ग्रौर पुराडाश से हवन होता है, इसलिए मध्यम ग्रवस्था मे [दृढवीय द्वारा] गभ जनन शक्ति हा जाती है, क्योकि दधि घन रूप द्रव्य है। ग्रागे ग्रनुयाज मे भी घृत ही हवि रहता है। इससे ग्रन्तिम ग्रवस्था मे फिर वीय मे जनन शक्ति नही रहती।

[प्रयाज, ग्रनुयाज, सयाज, पुरोडाश, हवि ग्रादि यज्ञ कम की शब्दावलि है जिनका प्रयोग ग्रनुष्ठान मे किया जाता है] उद्दालक स्वैदायन से यह विद्या जानकर परितुष्ट होते हैं। यही ग्राख्यायिका समाप्त होती है।

यह एक उदाहरण मात्र है। इस प्रकार शतश ग्राख्यायिकाए यज्ञ के सम्बन्ध मे ब्राह्मणो मे मिलती है।

आख्यायिकाओं की वैज्ञानिकता

इस प्रकार की आख्यायिकाओ पर मनन करने वाले विचारको को यह मानना पडेगा कि जिस दर्शपौर्णमास यज्ञ का बालक के दांत निकलने केश-लोम उत्पन्न होने आदि से सम्बन्ध बताया गया है, वह अवश्य ही प्रकृति का वैज्ञानिक दर्शपौर्णमास योग होता है। यदि वेद के श्रद्धालु यथाश्रुतग्राही सज्जन इस बात का हठ करे कि हमारे दर्शपौर्णमास की आहुतियो के कारण ही बालको के दन्त केश आदि की उत्पत्ति होती है, उन्हे सोचना होगा कि दर्शपौर्णमास के नाम से ही सर्वथा अनभिज्ञ ग्रामीण, यवन, अगरेज आदि के बालको के दन्त लोमादि की उत्पत्ति होती है। कुछ ब्राह्मणो की आहुतियो का समस्त विश्व पर प्रभाव पड जाता है ऐसा मानना तो वेदो का उपहास कराने का कारण बनता है। स्वच्छन्द कल्पनाओ से इन प्रसगो का कुछ भी अर्थ-निर्धारण कर लेना विचारको की दृष्टि मे स्वारसिक नही हो सकता। इससे यही मानना उचित होगा कि प्रकृति के द्वारा इस प्रकार के अनेक यज्ञ हो रहे हैं, उनमे से ही एक प्रकार के यज्ञ का उपयु क्त आख्यायिका मे दर्शपौर्णमास कहा गया है। उसी यज्ञ का यह सब फल बताया गया है।

उपयु क्त आख्याना से यह भली भाति सिद्ध होता है कि सृष्टि विद्या के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयो पर वेद मे जानकारी मिलती है, इसीलिए बार-बार आग्रहपूर्वक कहता हू कि वेद शिक्षा के बिना हमारी दुर्गति का कोई उपचार नही है और भौतिक विज्ञान के सामने भी वेद का कोई विकल्प नही है। एक न एक दिन उसे वेद की शरण मे आना ही होगा।

—❀❀—

धूमकेतु ही सूर्य के निर्माता हैं

हेली, गेलीलियो या न्यूटन की भ्रात गति से यदि विज्ञान चलता रहा तो सृष्टि का अवसान भले ही हो जाय, यह विज्ञान सृष्टि का ज्ञान कदापि नही कर सकता। कारण यह है कि इस विश्व प्रपच मे पदार्थों एव उनके रूप-प्रकारो का कोई अन्त नही। नित नए अनुसन्धान और नित नई जानकारी अनन्त काल तक मिलती ही रहेगी और पदाथ चूकि परिवतन शील हैं अत बदलते ही रहेंगे। जो कोई भी ज्ञान स्थल पदार्थों के आधार पर प्राप्त किया जाएगा उसकी यही गति होगी। ज्ञान और विज्ञान "दृष्टि" के विषय है, पदार्थों के नही। पदाथ ज्ञान भी तभी सम्यक् होगा जबकि उसके पीछे "दृष्टि" होगी। वेद मे ऋषि को "द्रष्टा" कहा गया है और आत्मा को भी द्रष्टा कहा गया है। यही कारण है कि ऋषियो ने सृष्टि-विद्या या विज्ञान के बारे मे जो जानकारी मानव सृष्टि के आदि काल मे हमे दी वह आज तक नही बदली। आधुनिक या प्रतीच्य विज्ञान का आधार चूकि पदार्थ रहा है, अत उसके "सिद्धात" नितप्रति बदलते रहे है। उसकी गति भी बडी मन्द है। गेलीलियो को अभी चार सौ वर्ष पूव यह ज्ञान हुआ कि पृथ्वी गोल है। हेली को सत्रहवी शताब्दी मे आकर यह ज्ञान हुआ कि धूमकेतु ब्रह्माण्ड का या सौरमण्डल का ही अग है। यह ज्ञान प्राप्त करके न्यूटन ने अपने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धात को नए सिरे से निरुपित किया और धमकेतु को ब्रह्माण्ड का एक अग माना।

जानकारी का अभाव

वैज्ञानिको ने अभी खण्ड-खण्ड रूप मे धूमकेतु को जाना है और अभी वे यह भी निश्चय नही कर पाए कि इनकी सख्या कितनी है इसका कारण यह है कि आधुनिक विज्ञानवेत्ताओ की खोज यन्त्र प्रधान है, अनुभव साध्य है और परीक्षणात्मक है। इसमे ज्ञान का अभाव है। यही कारण है कि वे वस्तु या पदाथ की समग्र जानकारी नही कर पाते और ज्ञान का खण्ड-खण्ड सग्रह करते है। मुझे इस पर कोई विवाद नही करना

परन्तु कहना यही है कि ज्ञानोपार्जन की यह पद्धति उन वैज्ञानिक
महानुभावो को गन्तव्य तक कभी नही पहुचाएगी। हेली नामक जिस
धूमकेतु की आज धूम मची हुई है उस सिलसिले मे अभी तक यह मालम
नही इन वैज्ञानिकों को कि धूमकेतु कितने हैं और इनकी उत्पत्ति किस
तरह हुई है ? जानकारी है, परन्तु यह अनुमान के आधार पर है और
अधूरी है।

धूमकेतुओ की वेदो ने बडी विशद जानकारी दी है और उसे सृष्टि
विद्या का अग माना है। प मोतीलाल शास्त्री ने ईशोपनिषद् की टीका
म लिखा है कि धूमकेतुओ से ही सूय को उत्पत्ति मानी गई है अर्थात
धूमकेतु को सूर्य का जनक माना जाता है। जैसा कि मैंने पूव मे एक बार
उद्धृत किया है "सत्रमापोमय जगत्" सम्पूण जगत आपोमय है। आपका
शब्दाथ वसे पानी होता है। परन्तु जगत का कारण जो आपो तत्व ह
वह वायु [सूक्ष्म रूप मे] रूप मे है। जब सूय चन्द्र और पृथ्वी कुछ भी
नही थे तो आपोमय आकाश ही था। इसी से सृष्टि का क्रम जारी हुआ
जिसके बारे मे वेद मे कहा गया है –तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश
सम्भूत आकाशाद्वायु वायोरग्नि, अग्नेराप अदम्य पृथ्वी, पथ्विया औषध्य
औषधिभ्यो अन्न अन्नात् पुरुष" अर्थात् आकाश से वायु, वायु से घनाग्नि,
घनाग्नि से तरल पानी, पुन घन पृथ्वी, पृथ्वी से औषधि एव अन्न तथा
अन्नाद उत्पन्न हुए। सृष्टि के इस क्रम मे प्रारम्भ के जल और अग्नि सूक्ष्म
रूप मे उत्पन्न होते है। आपोमय रस [सूक्ष्म] ईरा कहा गया है और
उसका अग्नि [सूक्ष्म] से सम्बन्ध होने घन बन जाता। इस अवस्था तक
रूप ग्रहण नही करता, बल्कि सब कुछ ऋतात्मक है। आपोमय परमेष्ठि
लोक ही ऋत तत्व का आधार है। पानी भी अपने सूक्ष्म रूप मे सलिल
या सरिर रूप मे रहता है। यह ऋत रूप मे ही प्रवाहित होता है।
"आपोवाइदमग्रे सलिममेवास" यह कहा गया है। इस वायु रूप सूक्ष्म
जल मे ही मातरिश्वा वायु भी विद्यमान बताया गया है जो चल या ऋतु
रूप वायु को घेरे रहता है अत चल वायु मातरिश्वा की सीमा मे बाहर
नही निकल पाता और दोनो वायु तत्वों मे सघष बना रहता है। इसी
सघष के परिणामस्वरूप अग्निमय परमाणु उत्पन्न होते ह। वायु का सघष
रूप बल प्रयोग ही सहाबल नाम से प्रसिद्ध है। यह अग्नि इसी बल से
प्रगट हुआ। अत इसे सहाजा कहा गया है। सारे परमेष्ठि समुद्र मे यह
न परमाणु रूप व्याप्त हो जाता है। मातरिश्वा नामक वायु इस

अण्डाकार बना देता है। इस आपोमय अण्ड मे चारो ओर ऋतु रूप मे अग्नि भर जाता है और कालातर मे हिरण्यमाण्ड का रूप धारण कर लेता नेता है। यही ऋत रू अग्नि पु ज धूमकेतु का रूप धारण कर लेता है। यही धूमकेतु अतत सूय का जनक बनता है। ऋग्वेद मे इस धूमकेतु नामक अग्निपुज की जानकारी निम्नलिखित रूप मे दी गई है

[1] हरयो धूमकेतवो वातजूता उपद्यवि।
यत ते पृथगग्नय ॥

वायु से प्रेरित धूमकेतुरूप अग्नि अन्तरिक्ष मे पृथक्-पृथक् माग से जा रहे है।

[2] ऐतेत्ये पृथगग्नय इद्धास सदृक्षत।
उपसामिव केतव ॥

पृथक्-पृथक् विचरण करने वाले यह [धूमकेतुरूप] अग्नि एव होताओ द्वारा समिद्ध बन कर [यज्ञ मे] प्रकट हो रहे है।

[3[अप्सवग्ने साधिष्टव सोपधीरनुरूध्यसे।
गर्भे सजायसे पुन ॥

हे अग्ने! आपका निवास स्थान पानी मे है। ऐसे आप औषधियो पर अनुग्रह कर उनके गर्भ मे प्रविष्ट होकर [औषधि रूप से] उत्पन्न होते हैं।

[4] यदग्ने दिविजा असि, अप्सुजा सहस्कृत।
त त्वा गीर्भिर्हवामहे

हे अग्ने! आप लोक मे, एव पानियो मे उत्पन्न होने वाले हैं। सहोवल से आप [नित्य] युक्त है। ऐसे आपकी हम वाणी से स्तुति कर रहे है।

[5] स नो महो अनिमाना धूमकेतु पुरश्चन्द्र
धिये वाजाय हिन्वतु ॥

[पिण्डात्मक न होने, अनिमान-परिच्छेद रहित-ऋतरूप इतस्तत व्याप्त[चन्द्र कान्ति के समान प्रकाशित वह धूमकेतु नाम का अग्नि हमारी बुद्धि एव कम और ज्ञान कर्म के लिए प्रसन्न बनें।

[6] यदयुक्था अरुषा रोहिता रथे वातजूता वृषभस्येव ते रव।
आदिन्वसि वनिनो धूमकेतुनाग्ने सखेमारिरपामा वय तव।

हे अग्ने ! जिस समय आप वायुवेग सम [वायुरूप हो] घोडो मे युक्त रथ पर सवार होकर वनो को जलाते हुए निकलते हैं, उस समय आपका शब्द एक महा वलिष्ठ वृषभगर्जन जैसा हो जाता है। अनन्तर आप वना सारे पदार्थों मे [वृक्षादि] मे अपने धूमकेतु भाग से व्याप्त हो जाते हैं। हे अग्ने ! आपके साथ मित्रता हो जाने पर हम कभी दु ख न पावें। "हम सदा आपके ह" [आपको ऐसी दृष्टि रख कर सदा हमारी रक्षा करनी चाहिए]।

सूय भी घूमता है

पाठको को विदित होगा कि आपोमय [वायुमय] महासमुद्र म इस्तत दोलायमान प्रदीप्त सौर प्रकाशमान ऋताग्निपु ज ही धूमकेतु है। "धूमकेतुनामेकसहस्त्र सम्येति–शशिवभ्दासमानास्तीवा" के अनुसार धूमकेतु सख्या मे एक सहस्त्र माने जात हैं वही सहस्र् धमकेतु पूवथ्रदुक्त- "स सहस्रासुजज्ञ" प्रजापति की आयु [राशिभूत अग्नि] क्रमश केन्द्र मे सघातभाव का प्राप्त होता हुआ सूय पिण्ड रूप मे परिणित हो गया है। वह अग्निपु ज परिभ्रमणशील था, अतएव तदुत्पन्न सूय भी स्वस्थान पर घूमता हुआ अपने प्रभव परमेष्ठि के चारो ओर परिक्रमा लगा रहा है, एव इतर धूमकेतु सूय के चारो ओर परिक्रमा लगा रहे हैं। उच्चावच स्थान भेद से इनकी परिक्रमा का काल अनत वर्षों मे विभक्त है। घूमते घूमते धूमकेतु जब सूय के समीप जाता है, तभी वह हमारे दृष्टि पथ मे आता है। यही इसका उदय काल माना जाता है। परिभ्रमणशील धूमकेतु से उत्पन्न सूय के परिभ्रमण से ही प्रवर्ग्यांशो से आगे जाकर शनि-मगल-वृहस्पति-देवसेना पृथ्वी बुध माठर कपिल-दण्ड आदि पृथक्-पृथक् अनेक अग्नि गोल उत्पन्न हुए हैं। यह सब सूर्य के उपग्रह है।

धूमकेतु के बारे मे ऊपर यह बताया गया है कि वह जब सूय के अधिक निकट पहु चता है तभी हमारे दृष्टि पथ मे आता है और यह भी लिखा गया है कि धूमकेतु हो अतत सूय का रूप धारण करता है। पिछली कुछ शताब्दियों से जो धूमकतु प्रति 76 वप मे देखने मे आ रहा है और जिसका नाम हेली नामक वज्ञानिक के साथ जुडा हुआ है वह इसलिए दृष्टिगोचर है कि सूय के निकटतम धूमकेतु है। सम्भव है यही धूमकेतु हो जो अतत सूय का स्थान ल लेगा। इसकी अवधि क बारे

मे प मोतीलाल शास्त्री ने अपनी एक पुस्तक मे कहा है जो सूर्यनारायण अपनी प्राण एव भूत मात्राओ को अजस्र रूप से भूतभातिक-ऊर्जा के स्वरूप का निर्वाह करने के लिए निरतर निस्रस्त करते रहते है, उनका प्राण कोप भी सनातन या शाश्वत नही है । एक न एक दिन वह वीतेगा ही । इस अवधि का अनुमान शास्त्रीजी ने तैंयालीस अरब वत्तीस कराड वप वताया है । इस अवधि मे परमेष्ठि लोक से एक सहस्त्र धूमकेतुओ की सृष्टि हाती है और यही सनातन क्रम अनवरत चालू रहता है ।

सृष्टिक्रम

वेदा मे जा सृष्टि का क्रम वताया गया है वैसा ही क्रम प्राय आधुनिक विज्ञान मानने लगा है परन्तु कितने-कितने परीक्षण और अनुमान लगाकर । न्यूटन ने हेलीकी स्थापना के बाद धूमकेतु को सौर-मण्डल का अग माना है, परन्तु इतना सा ज्ञान करने के लिए उन्हे कितना कुछ करना पडा है । सृष्टि-विद्या क वारे मे हमारे पास तो ज्ञान का भण्डार भरा पडा है और वह मानव सृष्टि के आदि काल से ही है । क्यो न उसी का उपयोग करके वैज्ञानिकगण अपना और अपने ससार का कल्याण करते । ऐसा ज्ञान जो सनातन है, कल्याणकारी है और मानव को सत्य माग का दशन करानेवाला है ।

विज्ञान के नाम आज जनमानस मे आम धारणा यह वनी हुई है कि जो कुछ मशीन के द्वारा किया जा रहा है सब विज्ञान है । उसी नाम पर अनुसधान हो रहे हैं और इसी नाम पर व्यापार तथा शस्त्र सचय हा रहा है । वस्तुत मशीन तो एक शिल्प है जो देश काल परिवतन के अनु-सार परिवर्द्धित होता रहता है । इसी क्रम मे उपग्रह और कम्प्यूटर वन रहे हैं और इसी क्रम मे एक दिन वैलगाडी वनी थी और एक दिन वैलून वना था । भविष्य मे कई नई-नई चीजे वनती रहगी । विज्ञान तो जीवन का शृ गार करने वाली वहुमूल्य विद्या है और उसका स्रोत पदाथ नही वल्कि अन्तरग है ।

विज्ञान का लक्ष्य सत्य-सधान है और वह कारण-कार्य के नियमा-नुसार एक सुनिश्चित गति से एक सुनिश्चित दिशा मे एक सुनिश्चित पथ पर चलता है । सव का मूल एक है । वह एक ही अनेक रूपो मे किस तरह व्यक्त होता है और अन्तत सव कुछ एक ही मे विलीन किस प्रकार व क्या हा जाता है, यही जानना विज्ञान का काम है ' काय निश्चय ही प्रयोग शाला मे नही हा सकता है ।

वर्णमाला का विकास

भारतीय शिक्षा पद्धति के अनुसार बालक को पाचवें वर्ष के प्रारम्भ मे पाच अक्षरो, शब्दो या मन्त्रो का ज्ञान करवाया जाता था। वे पाच अक्षर है "अ इ उ ऋ लृ" इन पाच अक्षरो से बालक की शिक्षा प्रारम्भ होती थी और इन्ही पाच अक्षरो मे सम्पूर्ण विश्व की रचना के बीज विद्यमान है। मै यहा केवल वर्णमाला की उत्पत्ति पर चर्चा करना चाहूगा।

जिस प्रकार सवत्सर से सृष्टि की रचना का स्वरूप बताया गया है वेदो मे उसी प्रकार शब्दो की रचना का स्वरूप भी बना हुआ है। वेद विज्ञान मे शब्द और अर्थ दोनो मे सहचारी भाव है। यह ध्यान देने योग्य है। कहा गया है कि जो शब्दब्रह्म को जान लेता है वह परब्रह्म को भी जान लेता है "शाब्दे ब्रह्मणि निष्णात पर ब्रह्माधिगच्छति"।

शब्द की उत्पत्ति

शब्द की उत्पत्ति परमेष्ठिलोक से हुई है। परमेष्ठी लोक सूर्य से भी ऊपर है, जिसका आकार इतना विशाल बताया गया है कि सूर्य अपने अनय वृत पर इसकी परिक्रमा पच्चीस हजार वर्ष मे पूरी करता है और उसकी तुलना मे वह कदुक (गेद) समान लगता है। परमेष्ठी लोक अर्णव समुद्र के रूप मे है, जिसमे विशाल तरगो एव ज्योतियो का सचरण होता रहता है। इसी लोक मे भृगु एव अगिरा नामक दो प्राणो की व्याप्ति हो रही है जो क्रमश सोम एव अग्नि के मूल स्वरूप हैं। भृगु स्नेह गुणमय एव अगिरा तेजोगुणमय बताया गया है। स्नेहमयी भृगु धारा ही आम्भृणी वाक कहलाई जिसका ऋग्वेद के आम्भृणी सूक्त, मे विशद विवेचन मिलता है। अग्निमयी या तेजोमयी अगिराधारा ही सरस्वतीवाक् कहलाई है। आम्भृणी अर्थात भृगुधारा मे समस्त पदार्थो की उत्पत्ति मानी गई है और इसे लक्ष्मी का क्षेत्र कहा गया है। सरस्वती -मयी धारा मे शब्दो की उत्पत्ति हुई है। यही सरस्वती का क्षेत्र है।

दोनो तत्व भृगु अगिरा एव लक्ष्मी सरस्वती सहजन्मा हैं परन्तु सरस्वती प्रथमा एव लक्ष्मी द्वितीया है अर्थात लक्ष्मी की प्रतिष्ठा सरस्वती ही है। दोनो का आधार एक ही अर्थात परमेष्ठी ही है। यही अर्थब्रह्म और शब्द-ब्रह्म का उद्गम है अत एक को जान लेने पर दूसरे को सहज ही जाना जा सकता है। यह धारणा मिथ्या है कि लक्ष्मी और सरस्वती में कोई वैरभाव है। वैज्ञानिक सत्य तो यह है कि सरस्वती ही लक्ष्मी की प्रतिष्ठा है। प मोतीलालजी तो कहा करते थे कि जिस राष्ट्र की सरस्वती रूठ जाती है उस राष्ट्र की लक्ष्मी भी कालान्तर म विलीन हो जाती है।

शब्दार्थ की उत्पत्ति के क्रम मे बताया गया है कि अर्थब्रह्म मे अव्यय, अक्षर और क्षर नामक तीन विवर्त हैं और शब्दब्रह्म मे भी इसी प्रकार स्फोट, स्वर एव वर्ण नामक तीन विवर्त हैं। क्षर का उपादान अथवा साधन मानकर अव्यय के अवलम्बन म अर्थों का विकास हुआ। शब्दब्रह्म मे भी "अ" का रूप एक ही स्वरमय अक्षर से स्फोट के अवलम्बन पर व्यजन अक्षर से शब्दों का प्रादुर्भाव हुआ। एक ही "अ"कार अपने विस्तृत रूप मे २८८ वर्ण मात्रिका का रूप धारण कर लेता है। "ऐतरेय आरण्यक" मे कहा गया है "अकारो व सर्वा वाक्"। यह विस्तार किस प्रकार हुआ है, उसकी भी स्पर्शोष्म प्रक्रिया है अर्थात् कण्ठ और तालु के स्पर्श एव ऊष्माभाव से ही एक स्वर "अ"कार २८८ रूप धारण कर लेता है। स्पर्श और ऊष्मा का आधार वही अग्नि-सोम विज्ञान है। स्पर्श का अर्थ सकोच अर्थात् सोम ऊष्मा का अर्थ विकास अर्थात् अग्नि इन्ही दोनो की प्रवृत्ति से सपूर्ण वर्णाक्षरो, शब्दो का विकास हुआ। इस शास्त्र को शब्द-प्रपच कहा गया है।

आम्भृणी और सरस्वती वाक् हमारे त्रैलोक्य मे पृथ्वी एव सूर्य रूप मे व्यक्त हुई है। पृथ्वी भृगु मूलक आम्भृणी वाक् का प्रतीक है अर्थात् अर्थमयी है। सूर्य सरस्वती वाक् का प्रतीक है। जो शब्दमय है। वर्णमाला मे जो "अ आ इ उ" स्वर है उनकी उत्पत्ति सूर्य से मानी गई है और 'क् ट् च् त्" इत्यादि व्यजनो की उत्पत्ति पृथ्वी से मानी गई है। व्यजन स्वरो पर ही प्रतिष्ठित होते हैं। स्वर के बिना व्यजन की प्रतिष्ठा नही होती। व्यजन स्वर के ही मुख का ग्रास बना रहता है। स्वरवाक् को बृहती वाक् कहा गया है और व्यजन को अनुष्टुप् वाक् माना गया है। अनुष्टुप् ही पार्थिव वाक् है और बृहति ऐन्द्रीवाक् अर्थात् सौरी

शब्द प्रपञ्च के अनुसार सौगीवाक् या केवल मानव प्राणी में ही विकास हुआ है। अन्य प्राणियों में नहीं।

सौगी अथवा बृहतिवाक् का मानव जीवन में अत्यधिक महत्त्व है। सूर्य जिस पूर्वापरवृत्त के केन्द्र में प्रतिष्ठित है उसे बृहतीछंद कहा गया है। इसी को ज्योतिष में विषुवत व्रत कहा जाता है। यह बृहतीछंद बृहतिवाक को नवाक्षररूप में धारण करता है। नवाक्षरा का अर्थ है नव बिंदुवाला स्वर। यही नवाक्षर बृहतिछंद के चारों चरणों में गुणित होकर ३६ बन जाता है। यही मनुष्य की आयु का परिमाण बन जाता है। इस छंद के प्रत्येक अक्षर का सूर्यदेव को एक हजार रश्मियों से तारतम्य बन जाता है। कुल ३६ अक्षर सूर्य की ३६ हजार किरणों से जुड़ होते हैं। ये रश्मियां अर्थात् सार प्राण प्रतिदिन के क्रम से मानव शरीर में शिर पर स्थित ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा प्रवेश करते रहते हैं। मानव को एक दिन और एक रात का जीवन-निर्वाह करने के लिए सूर्य का एक प्राण उपलब्ध होता है। बृहतीछंद के ३६ अक्षरों से जुड़ी हुई ३६००० रश्मियां प्रतिदिन एक के हिसाब से १०० वर्ष तक मानव को प्राप्त होती रहती है। बृहतिवाक् चूंकि मानव में ही विकसित हुई है वही इसकी आयु का निर्धारण करने वाली मानी गई है। इस तरह बृहतीछंद के आधार पर मनुष्य की आयु १०० वर्ष मानी गई है। इसी से पुरुष को "शतायुर्वैपुरुष" कहा गया है। पुरुष शब्द का प्रयोग मानव मात्र के लिए हुआ है।

आयु प्रवर्तक बृहतिछंद ही बृहती वाक् स्वर का प्रणेता माना गया है। यह नव बिन्दुओं से युक्त है। इन नव बिन्दुओं में से पांचवीं और छठी बिन्दुओं पर तो स्वर स्वयं केन्द्रस्थ होकर प्रतिष्ठित है। शेष सात बिन्दुओं में वह अर्क रूप से अथवा गति रूप में व्याप्त रहता है, जिन पर व्यंजन बैठाये जा सकते हैं। जिनकी दो-पांचवीं छठी बिन्दुओं पर स्वर स्वयं केन्द्रस्थ है उन पर व्यंजन बिठाना संभव नहीं। एक स्वर के आधार पर केवल सात व्यंजनों का निर्माण अथवा निर्वाह किया जा सकता है। व्यंजन स्वर के बिना ठहर नहीं सकते, बैठ नहीं सकते, खड़े नहीं हो सकते बृहतीछंद पर आधारित नवाक्षरा विद्या में स्वरों एवं व्यंजनों का निर्माण इस तरह हुआ है कि दोनों का तारतम्य बैठ जाय। स्वरों की रचना इसी तरह हुई है कि वे व्यंजनों की प्रतिष्ठा कर लें और सम्पूर्ण

ध्वनियां व्यक्त हो सकें। देवनागरी वर्णमाला की व्यवस्था इसी नवाक्षरा-विद्या के अनुसार हुई है।

जैसा कि ऊपर लिखा गया है, व्यंजन का आधार स्वर ही है। बिना स्वर को आधार बनाए व्यंजन का स्वरूप ही नहीं बनता। इसका उदाहरण दो शब्दों में नीचे दिया जा रहा है। हम लिखने में उपन्यास, सन्यास इत्यादि शब्द लिखते हैं परन्तु उच्चारण में ये शब्द बन जाते हैं—

उपनयास, सन्नयास। ऐसा क्यों ? यह सब स्वर की महिमा है। दोनों शब्दों में "न" व्यंजन को किसी स्वर का आधार नहीं मिला। अतः उपन्यास में "प" का "अ" कार स्वर और "या" का आकार स्वर "न" का ग्रास बनाने को आतुर रहते हैं। दोनों पार्श्ववर्ती स्वरों की खींचतान में "न्" व्यंजन उच्चारण में दोनों ओर चला जाता है अतः उपन्यास का उपन्नयास बोला जाता है। स्वर का यह अदभुत आचरण है। जिसे समझने में संपूर्ण शब्द विद्या अथवा शब्द प्रपंच को ही समझना पड़ेगा।

नवाक्षरा विद्या

मैंने ऊपर यह भी लिखा है कि हमारी देवनागरी वर्णमाला का जो स्वरूप है उसका विकास नवाक्षर विद्या से हुआ। उसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि अन्य भाषाओं का विकास नवाक्षरा से नहीं हुआ। मानव जिह्वा से व्यक्त होने वाली विश्व की सभी भाषाओं का या लिपि का विकास नवाक्षरा के आधार पर हुआ है। देवनागरी की विशेषता तो यह है कि यह पूर्णतः वैज्ञानिक है। इसकी मुख्य विशेषता यह है कि यह जैसे लिखी जाती है वैसे ही बोली जाती है। संपूर्ण वर्णमाला भिन्न-भिन्न विभागों या वर्गों में विभक्त है और एक विभाग के वर्णों का उच्चारण स्थान एक ही है जैसे कण्ठ, तालु, ओष्ठादि। स्वर एवं वर्णों का पारस्परिक संबंध भी निर्धारित है। मंत्रोच्चारण और [illegible] नियामकों का कहना है कि एक मात्रा तक के व्यतिक्रम से [illegible] व्यतिक्रम उत्पन्न हो जाएगा। इन शास्त्रकारों का कहना है कि [illegible] है कि जो कुछ हम तत्व ज्ञान से प्राप्त कर सकते हैं वही [illegible] प्राप्त कर सकते हैं। शब्दशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार [illegible] निहित रहता है अतः वे शब्द और अर्थ [illegible] ब्रह्म के दो रूप मानते हैं।। वैदिक [illegible]

है कि उसके शब्दो या अर्थ उन्ही शब्दो मे निहित है। प मोतीलालजी शास्त्री का यह दृढ विश्वास था कि वेद को समझने के लिए किसी व्याख्याकार, भाष्यकार या टीकाकार की आवश्यकता नही है, बल्कि उसके शब्द को समझ ल।

भारतीय शिक्षा पद्धति मे बालक को पाचवें वर्ष मे जिन पाच अक्षरो का ज्ञान करवाया जाता है, वे स्वर एव व्यजन दानो से अथात् अग्नि सोम से, पृथ्वी एव सूर्य से अनुष्टुप एव बृहतिवार से युक्त हैं। "अ इ उ ऋ लृ' शब्दशास्त्र के रचयिता भगवान पाणिनि ने अपने माहेश्वर सूत्रो का श्रीगणेश इन्ही सूत्रो "अ-इ-उ ण" "ऋलक" से किया है। इन पाच अक्षरा मे वे तत्वाक्षर निहित हैं जो सपूण विश्व के कर्ता बने हुए है। जा ब्रह्मा, विष्णु, इद्र, अग्नि और साम हैं। पुराण शास्त्रा मे ही पचदेवतावाद त्रिदेव रूप मे मिलता है। ये तीन पौराणिक देव ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं। पुराणा मे अग्नि, और साम, इद्र से ही समन्वित हाकर महेश बन जाते हैं। जो त्रिनेत्र है।

बालक की शिक्षा जिन पाच अक्षरो के ज्ञान मे प्रारम्भ होती थी, उसका विस्तार शनै शनै सम्पूण शब्द शास्त्र के ज्ञान के अनतर सृष्टि विद्या एव ब्रह्म विद्या तक चलता रहता था। इस ज्ञान के द्वारा एक स्नातक आधिभौतिक, आध्यात्मिक एव आधिदैविक ज्ञान से सम्पन्न होकर जीव जगत् के रहस्यो से अवगत हो जाता था और जीवन क्षेत्र मे दृढतापूवक अग्रसर हो पडता था। एक बार जीव जगत् का ज्ञान हो जाने पर कोई विषय ऐसा नहा जिसका ज्ञान अर्जित करना कठिन हो, चाहे वह विषय प्राचीन हो अथवा अर्वाचीन। ज्ञानोपाजन के लिए बुद्धि मे ग्राह्यशक्ति एव वाणी मे अभिव्यक्ति होना आवश्यक है। इसके बाद कुछ भो शेष नही रहता कुछ भी दुर्बोध नही रहता।

भारत की पहचान

हमारे देश के विद्वान हो किम्वा शासक, उनकी यह धारणा बन गई है कि वेद और पुराणा की आज के युग मे काई उपादेयता या सार्थकता नही है। यह धारणा इतनी निर्मूल है कि जितना शीघ्र इसे दूर किया जाय उतना ही देश का कल्याण है। हमारे भारत देश की एक ही ता पहचान थी और वह भी वेद। देश की प्रतिष्ठा विश्व मे कभी इसलिये थी कि इसन मानव जाति को वेद जसा आदिज्ञान दिया। इसी एक पह के मिट जाने से देश की यह दुर्गति है। □

ब्रह्म सत्य है, परन्तु जगत् मिथ्या नहीं

वेद पर इसी शताब्दी के आरम्भ मे जयपुर के प मधुसूदन ओझा ने वह काम किया है जो इस देश मे भगवान वेदव्यास के बाद आज तक नही हुआ। यह कालावधि तीन सहस्त्र वर्षो से लेकर पाच सहस्त्र वर्षों तक का मानी जाता है। ओझाजी ने वेद का समग्र-सृष्टि-विज्ञान के रूप मे प्रस्तुत किया। उन्हे वेदोद्धारक कहा जायेगा। उनके काम का उन्ही के परम शिष्य प मोतीलाल शास्त्री ने आगे बढाया। प गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने इस काय मे महत्वपूण योगदान किया। ओझाजी का मानना था कि विज्ञान पक्ष का लाप हाने के कारण ही देश मे वेद का लोप हो गया और हमारे अध पतन का सूत्रपात हुआ।

पतन का कारण

प मोतीलालजी शास्त्री का कहना है कि दार्शनिको ने जब जगत को मिथ्या घोपित कर दिया तो हमारा पतन अधिकाधिक होता गया और भारतदेश वतमान अवस्था मे पहुच गया। जगदगुरु के बजाय परमुखापेक्षी बन गये। मिथ्यावाद, शून्यवाद आदि दार्शनिकता ने देश भर मे नराश्य, अकमण्यता एव दैन्यभावो का सचार किया। ईशोपनिपद् विज्ञानभाष्य की भूमिका मे शास्त्रीजी ने सुदृढ स्वर मे घोपणा की है कि "जगन्मिथ्या" की धारणा अशास्त्रीय है, मिथ्या है, यहा तक कि अनीश्वरवादी है। उन्होने वेद, गीता व अन्य शास्त्रों का प्रमाण देकर यह प्रखर स्वर मे कहा कि किसी शास्त्र मे मिथ्या शब्द का प्रयोग तक नही हुआ और "जगन्मिथ्या" की घोपणा ही कल्पित है, अत शास्त्र सम्मत नही है। जगत मिथ्या नही है सत्य है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए उन्होने सृष्टिसृजन की प्रक्रिया का उल्लेख किया है जो, निम्नलिखित मन्त्र से प्रारम्भ हुआ है

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

"वह [कोई] एक [विलक्षण तत्व सवथा] कम्परहित है। [वह] मन से भी अधिक वेग वाला है। पहिले से ही [सवत्र] व्याप्त उस तत्व को देवता लोग प्राप्त करने मे असमथ है। वह तत्व दौडते हुए देवताओ का स्वय बैठा बैठा ही अतिक्रमण कर रहा है। ऐसे इस तत्व मे मातरिश्वा [नाम का तत्व विशेष] अप् नाम के पदाथ को रखता है" यह है मन्त्र का अक्षराथ।

श्रुति कहती है कि एक तत्व ऐसा है जो सदा के लिए ठहरा हुआ है, एव वही तत्व एक क्षण के लिए भी ठहरा हुआ नहीं है। वह एकान्तत अशान्त है। दोनो धर्मो से वह नित्य आक्रान्त है। उभय धर्मावच्छिन्न वस्तुतत्व है। इस प्रकार श्रुति एक ही तत्व मे सवथा विरुद्ध दो भावो का सन्निवेश बतला रही है। ऐसा कौनसा तत्व है जो निरन्तर चल भी रहा है, एव ठहरा भी हुआ है, जो अनेजत् भी है, एव मन से भी तेज दौडने वाला है। इसका उत्तर है वही अव्ययपुरुष। विशुद्धअव्यय तत्व इससे भी ऊपर है जिसका विवेचन भी पार्थिव शब्दो मे सम्भव नही। अव्यय का अमृतरूप विद्याभाग सवथा स्थिर [अनेजत्] है, मृत्युरूप कर्म भाग सवथा चर है। अपनी इ ही दोनो नियतियो से वह ससार मे व्याप्त हो रहा है। ससार चलाचल है। बनना-बिगडना ससार का स्वाभाविक धम है। इसी द्विनियति से यह विश्वक्षर "द्विनियति" नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। विश्व का बनना [स्थिति-ईदत्व] और बिगडना [गति-अन्यथात्व] यही दो रूप [रग] है, अतएव लोकभाषा मे विश्व के लिए "दुनिया दुरगी" यह आभाणक प्रसिद्ध है। निरुक्त क्रमानुसार द्विनियति शब्द ही "दुनिया" बन गया है। यहा एक बनता है, एक बिगडता है। एक रोता है, दूसरा हसता है। एक सोता है, एक जगता है। एक सेवक है, दूसरा स्वामी है। एक पति है, दूसरी पत्नी है। एक भोक्ता, दूसरा भोग्य है। एक बालक है, दूसरे खिलौने है। इस प्रकार भावद्वयावच्छिन्न अव्यय की सृष्टि मे सुख दु ख पुण्यापुण्य, अच्छा-बुरा, सत्य मिथ्या दिन रात, स्याह सफेद, गुरु शिष्य, राजा प्रजा, विद्वान मूख, राव रक आदि भेद से सवत्र इसी ित भाव का साम्राज्य है।

अव्यय का त्रियाभाग रसप्रधान है, कमभाग बलप्रधान है। रसभाग अमृत है, बलभाग मृत्यु है। यदि मृत्यु रूप सारे बल उस अमृतरूप रस समुद्र मे प्रविष्ट हो जाते हैं, उन्मुख हो जाते हैं तो वही अव्यय द्विनियति-मर्यादा से बाहर निकलता हुआ "परात्पर" बन जाता है। जैसा कि परात्पर निरुक्ति मे विस्तार से बतलाया जा चुका है। वही सीमितबलावच्छिन्न बनता हुआ, अतएव द्विनियति भाव का प्रवर्तक बनता हुआ अव्यय कहलाने लगता है। जैसा कि पुरुष निरुक्ति मे स्पष्ट कर दिया गया है। बलभाग सर्वथा क्षणिक, क्षोभ ही इसका स्वरूपधर्म है। इसी आत्यन्तिक क्षोभ से अव्ययपुरुष "असत्" कहलाने लगता है। रस भाग सर्वथा अक्षर है। शान्ति इसका स्वरूपधर्म है। इसी आत्यन्तिक शांति से यह "सत्" नाम से व्यवहृत होने लगता है। नित्य अशान्तिगर्भित नित्य शान्त अमृत-मृत्युरूप सदसत् तत्व ही ओंकार [ईश्वर] है, वही अहंकार [ईश्वरांशभूत जीवाव्यय] हैं, वह अहंकार [विश्व] है। यही रामानुज सम्प्रदाय का विशिष्टाद्वैत है। इस प्रकार तत्व दो हैं, परन्तु आश्चर्य है-कहलाते हैं दोनो "एक"। ऐसा क्यों ? इसका उत्तर अपने वस्त्र से पूछिए। वस्त्र मे कपडा है, सूत है, रुई है, कपास है, मिट्टी है, जल है, तेज है, वायु है, आकाश है, प्राण है, मन है, विज्ञान है, आनन्द है, अनन्त (परात्पर) है। वस्त्र में इतनी चीज, फिर भी वस्त्र एक कहलाया, ऐसा क्यों ? बस जो उत्तर इस "क्यो" का है, वही उत्तर पूर्व के "क्यो" का है।

उपाधिभेद

एक सत्ताभाव से अनेक भातियो के (प्रतीतियो के) रहने पर भी वस्त्र एक कहलाता है। यही अवस्था यहा है। बलतत्व अनेक रूप प्रतीत हो रहा है साथ ही उपाधिभेद से सत्ताभाव का भी पार्थक्य प्रतीत हो रहा है, परन्तु परमार्थत सत्तारस एक है, अत नामरूपप्रवर्तक बल पदार्थ को मान लेने से अद्वैततत्व मे कोई बाधा उपस्थित नही होती ऐसी अवस्था मे कल्पित अद्वैतवाद की रक्षा मे त्रस्त होकर नामरूपात्मक विश्व को मिथ्या मानना सर्वथा मिथ्या है, 'अनृते द्वे तु मायिके" ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या" यह प्रमाण किस शास्त्र के हैं, यह पता न लगा। सम्पूर्ण वेदवाङ्मय मे, गीता मे, वेदान्त सूत्रो मे कही भी विश्व को मिथ्या नही बतलाया है। विश्व को मायिक अवश्य बतलाया है, परन्तु मायाबल मिथ्या है-यह किस आधार पर मान लिया गया है,

यह समझ में न आया। यदि आप बुरा न माने तो हमें यह कह लेने दीजिए कि भारत वर्ष की शक्ति, विभूति व उन्नति का समूल विनाश यदि किसी ने किया है तो वह यही कल्पित जगन्मिथ्यावाद है। "संसार मिथ्या है—आत्मा सत्य है, सांसारिक कर्मबंधन के कारण हैं" इन अनुचित एवं अशास्त्रीय भावनाओं ने कर्मण्य भारतवर्ष को सर्वथा अकर्मण्य बना डाला है। पाठकों को हम यह विश्वास दिला देते हैं कि आप के शास्त्रों में कहीं भी जगत् का मिथ्या नहीं बतलाया गया है, अपितु यह विश्व को ब्रह्म की विभूति मान रहा है।

'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' के अनुसार विश्व का मूलप्रभाव ब्रह्म सत्ता चेतना आनन्दलक्षण बनता हुआ सत्य है। इधर—"ब्रह्मैवेद सर्वम्" यह श्रुति सत्यब्रह्म के कार्यभूत विश्व को "ब्रह्म" मान रही है। एक सत्यपूत महर्षि की कृति जब सत्य मानी जाती है तो सत्यमूर्ति ब्रह्म की कृतिरूप विश्व को कैसे मिथ्या माना जा सकता है। कारण के गुण ही तो कार्य के आरम्भक [स्वरूप सम्पादक] बनते हैं। जब कारण सत्य है तो कार्य कैसे मिथ्या हो सकता है। "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते" के अनुसार सत्यमूर्ति अव्यय से सारा विश्व बना है। अव्यक्त ब्रह्म ही व्यक्तरूप में आकर विश्व कहलाने लग गया है। ऐसा विश्व मिथ्या है, यह कौन विश्वास करेगा। ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः "एकांशेन स्थितं सर्वम्" "त्रिपादूर्ध्वउदैत पुरुषः पादोस्येहाभवत् पुनः" 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्" "एकं वा इदं विबभूव सर्वम्" 'एकं सन्तं विप्रा बहुधा वदन्ति" इत्यादि श्रुतिस्मृतियाँ जब स्पष्ट शब्दों में ब्रह्मकारणतावाद को पुष्ट करती हुई विश्व को ब्रह्म की विभूति मान रही हैं तो ऐसी अवस्था में विश्व को मिथ्या मानना क्या निरी कल्पना नहीं है। अपि च सृष्टि होती है प्रजापति से। प्रजापति को सृष्टिकामना से तपश्चर्या करनी पड़ती है। उसकी चिरकाल की तपश्चर्या से विश्व उत्पन्न हुआ है, जैसा कि-प्रजापतिर्वा इदमग्र एक-आसीत्। सोऽकामयत बहुस्याम्प्रजायेय, भूमानं गच्छेयं, स तपोऽतप्यत" इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। साधारण मनुष्य परिश्रम करके यदि किसी वस्तु का निर्माण करता है तो लोक में उसका आदर होता है। ऐसी स्थिति में जगन्नियन्ता ने तपश्चर्या से जिस विश्व का निर्माण किया उसे एक हेला से मिथ्या बतला देना सचमुच अपराध है, अपराध ही नहीं अक्षम्य अपराध

है। अपिच-"अहं ब्रह्मास्मि" "योऽहं सोऽसम्" इत्यादि रूप से उपनिषच्छ्रुतियाँ, अहं पदार्थ को "ब्रह्म" मानती हैं। "तदुभयं हैतदग्रे प्रजापतिरास-मर्त्यं चैवामृतं च" इत्यादि ब्राह्मण श्रुति उस अहं प्रजापति को अमृत मृत्युमय मान रही है। श्रोती उपनिषद् के आधार पर चलने वाली स्मार्त्ती उपनिषद् [गीता] 'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन' इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में ब्रह्म को उभयधर्मावच्छिन्न बतला रही है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म के मृत्यु प्रधान विश्व को मिथ्या मानना साहस नहीं तो और क्या है। जिस नामरूपमय विश्व को आप मिथ्या मान रहे हैं, देखिये श्रुति उसी के लिए अपने क्या विचार प्रकट करती है —"त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म। तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थम। अतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति। एतदेषां साम, एतद्धि सर्वैर्नामभिः सममेतदेषां ब्रह्म, एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति। अथ रूपाणां चक्षु। अथ कर्मणा-मात्मा [शरीरम्] तदेतत् त्रयं सदेकमयमात्मा। आत्मा-उ एकः सन्नेतत्त्रयम्। तदेतदमृतं सत्येन छन्नम्। प्राणो वा अमृतम्। "नामरूपे सत्यम्"। ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः"

अशास्त्रीय विचार

जिस प्रकार हमने स्पष्ट शब्दों में "नामरूपे सत्यम्" इस रूप से स्वयं वेद में नाम रूपात्मक विश्व की सत्यता बतलाई है, क्या विश्व को मिथ्या सिद्ध करने वाला कोई वाक्य, आप बतला सकेंगे? नहीं, तो क्या आपके काल्पनिक मत का आदर किया जाय।" असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्" के अनुसार क्यों नहीं आपको "अनीश्वरवादी" माना जाय। समस्या बड़ी जटिल है। आज जगन्मिथ्यात्ववाद पर प्रायः सभी विद्वानों का दृढ़ अभिनिवेश है। उनके इस मन्तव्य के विरोध में कुछ भी कहना आपत्ति को निमन्त्रण देना है। फिर भी सत्य सिद्धान्त सत्य ही रहेगा। ऊपर की पंक्तियों से केवल क्षोभ प्रकट कर देना दूसरी बात है, एवं शास्त्रीय विचार से निर्णय पर पहुंचना दूसरी बात है। हम आज स्पष्ट शब्दों में आर्यावर्त के सभी विद्वानों को यह बतला देना चाहते हैं कि जगन्मिथ्यात्ववाद अशास्त्रीय है। "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" वाक्य का शास्त्र से कोई संबंध नहीं है। प्रस्थानत्रयी का कोई भी वाक्य जगत को मिथ्या नहीं बतला रहा। विश्व के लिए "अमृत" शब्द अवश्य आया है। परन्तु इस अमृत शब्द का अर्थ भी मिथ्या नहीं है। नीरक्षीर

विवेकियो के सम्मुख कुछ एक वचन उपस्थित कर दिये जाते हैं। यह वचन विश्व ईश्वर की कृति हैं-ईश्वर ही अपने अशम्प से विश्व बना है। अत तदशभत विश्व तद्रूप ही है इस सिद्धात का स्पष्टीकरण करते ह। विद्वानो का यह कतव्य होना चाहिए कि वे इन वचना का सम -वय कर चिरकाल से चली आने वाली जगन्मिथ्यात्वविषयिणी मिथ्या भ्रान्ति का निराकरण कर देश का निष्काम कमयोग मे प्रवृत्त करें।

उपयु क्त सन्दभ मे ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि जिन जिन दाशनिका ने जगन्मिथ्या के सिद्धान्त का प्रवतन किया, वे सभी वेद का प्रमाण मानते ह आर ऊपर यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि वेद मे कही जगत् को मिथ्या नही बतलाया गया। फिर यह मिथ्यावाद किवा शन्यवाद कहा से आया। वेद को प्रमाण मानने से यह मिथ्या सिद्ध होता ह आर वेद को प्रमाण न मानने पर दाशनिको की प्रतिष्ठा नही रहती। विद्वज्जनो से मैं निवेदन करना चाहूगा कि वे इस सबध म निर्णायक विचार करें और देश को सही दिशा दकर वतमान गर्हित अवस्था से मुक्ति दिलाए।

--॥□॥--

गति-स्थिति मय विश्व

सृष्टि का सचालन

सम्पूण सृष्टि के सचालन का क्या स्वरूप है इसके एक उदाहरण के रूप मे वैदिक सृष्टि विज्ञान के एक सिद्धात का उल्लेख मै यहा करना चाहूगा। सम्पूण सृष्टि का सचालन गति और स्थिति के रूप मे होता है। जो कुछ हमे प्रत्यक्ष दिखाई देता है वह स्थितिमय भी है और गति मय भी है। प्रत्येक वस्तु का एक केन्द्र है और उसकी एक परिधि है। प्रत्येक स्थावर व जगम वस्तु अपने केन्द्र पर स्थित भी है और अपने बाहर गतिशील भी है। केन्द्र को हम हृदय की और परिधि को पिण्ड की सज्ञा दे सकते है। केन्द्र स्थिति का स्वरूप है और केन्द्र से परिधि तक गति का सचार होता रहता है। एक ही गति अनेक रूप धारण कर लेती है केन्द्र और परिधि के बीच। परिधि से केन्द्र की ओर आने वाली गति का आगति कहा जाता है और केन्द्र से परिधि की ओर जाने वाली धारा गति कहलाती है। केन्द्र पर पहुचने या परि समाप्त होने पर वही गति स्नेह गति बन जाती है और केन्द्र से पुन प्रस्थान करते समय वही गति तेजो गति कहलाने लगती है। इस प्रकार एक ही गति आगति, गति, स्नेहगति और सकोचगति के रूप मे रूपान्तरित होती रहती है। ऊपर जिस केन्द्र को स्थिति के रूप मे प्रस्तुत किया गया है, वैज्ञानिक दृष्टि से वह भी गति रूप ही है। प्रत्येक गति अपने चरम बिन्दु पर पहुच कर स्थिति का रूप धारण कर लेती है और प्रत्येक स्थिति एक बिन्दु के बाद गति रूप मे परिणत हो जाती है। गति से स्थिति को सवथा शून्य कदापि नही किया जा सकता और स्थिति को सवथा गति रहित नही बनाया जा सकता। इन दोनो मे दोनो का समावेश है।

एक उदाहरण के द्वारा इस सिद्धांत का व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया जा सकता है। आप अपने घर से दफ्तर जाते हैं चाहे पैदल चलें चाहे वेगवान् वाहन पर सवार होकर जाएं। आपके साथ अन्य लोग भी चल रहे हैं, परन्तु दफ्तर पहुंचने में किसी को २० मिनट लगते हैं तो किसी को 15 मिनट तो किसी को 10 मिनट। इसका कारण यही है कि जिसकी गति में स्थिति की मात्रा अधिक है, उसे पहुंचने में अधिक समय लगा और जिसकी गति में स्थिति की मात्रा कम रही वह शीघ्र ही पहुंच गया। यदि अधिक से अधिक वेग से कोई चला या उड़ा तो एक ही क्षण में पहुंच गया, परन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता कि एक पल-क्षण या निमिष भी न लगे और आप दफ्तर पहुंच जाय। यह असंभव है। यदि ऐसा हुआ तो एक ही क्षण में आप घर में भी होंगे और दफ्तर में भी। यह तो सर्वव्यापी प्राण ब्रह्म विश्वेश्वर का ही स्वरूप है जो एक ही क्षण में सम्पूर्ण विश्व में गमन करने वाला और एक ही क्षण में सर्वत्र व्याप्त रहने वाला विशुद्ध गति स्वरूप भी और विशुद्ध स्थिति स्वरूप भी है। भौतिक सृष्टि या पदार्थों में गति और स्थिति सापेक्ष धर्म के साथ ही रहता है। विशुद्ध गतिरूप, विशुद्ध स्थितिरूप जो प्राणमय विश्वेश्वर ब्रह्म है, उसके लिए ईशोपनिषद में कहा गया है —

"अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।"

"वह अनेजत् है, कम्पन रहित है, गति शून्य है, किन्तु मन से भी अधिक वेगवान है। वह दौड़ते हुए देवताओं में भी स्वयं बैठा हुआ है। वे कभी इसका नहीं पा सकते। वह सभी से आगे मिलता है। इस विलक्षण तत्व में मातरिश्वा नाम का प्राणवायु आप शुक्र की आहुति देता है। इस आहुति से उस ब्रह्म के आधार पर सापेक्ष गति स्थिति रूप विश्व का निर्माण हुआ है।

भौतिक सृष्टि में गति और स्थिति ही संचालक तत्व है। यह विश्व एक ही समय में स्थिर भी है और गतिशील भी है। वह सत् भी है और असत् भी है। उदाहरण के रूप में हम एक मनुष्य को जन्म काल से मृत्यु तक देखते हैं। जन्म से लेकर प्रौढ़ावस्था तक उसमें कितने

ही परिवर्तन हो जाते है यह उसका गतिशील या परिवर्तनशील स्वरूप हुआ, परन्तु आजीवन हम उसको एक ही नाम से पुकारते हैं। यह उसका स्थित स्वरूप हुआ। यही बात जगत् के सभी पदार्थों पर लागू होती है।

गति और स्थिति

ऊपर कहा लिखा है कि प्रत्येक वस्तु अपने भीतर और बाहर गतिशील अथवा क्रियाशील है। प्रत्येक वस्तु के इर्दगिर्द उसके अणु-परमाणुओं का एक वितान या मण्डल बन जाता है जो यह भ्रम उत्पन्न कर देता है कि अमुक वस्तु दिखाई देता है। वैज्ञानिक दृष्टि से कोई भी पिण्ड दृश्यमान नहीं है, बल्कि स्पर्शमान होता है परतु पिण्ड के बाहर उसके जो अणु-परमाणु गतिशील रहते हैं उनसे बनने वाले वितान या मण्डल के कारण ऐसा भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि वह पिण्ड दिखाई देता है। वितान पर मण्डल का निर्माण सामतत्व से होता है जो प्रकाश स्वरूप है। दृश्यमान जो पदार्थ है वह सब साम है। जबकि पिण्ड तो स्पर्शमान है। इसका प्रमाण यह है कि निबिड अन्धकार में कोई भी पिण्ड दिखाई नहीं देता। उसे स्पर्शमात्र से ही जाना जा सकता है दृष्टि से नहीं। परमाणुओं की गतिशीलता ही पिण्ड के आसपास एक मण्डल बनाती है।

ऊपर गति के जो पाच रूप बताए गए हैं, वे कई रूपों में हमारे सामने आते हैं। गति, आगति, स्नेहगति, तेजो गति और स्थिति रूप गति को ही इन्द्र, विष्णु, साम, अग्नि और ब्रह्मा नाम से जाना जाता है। स्थिति ही ब्रह्मा है, आगति विष्णु है और गति इन्द्र स्वरूप है। स्नेहमयी गति साम है और तेजोमयी गति अग्नि है। ब्रह्मा गतियों की समष्टि रूप स्थिति का प्रतीक है। ब्रह्मा को सृष्टिकर्ता माना जाता है अत वह स्थिति है। विष्णु को पालन तथा भरण पोषण करने वाला कहा जाता है अत आगति स्वरूप है। आदान स्वरूप है। इन्द्र ही पौराणिक भाषा में शिव रूप है जिसे विसर्गधर्मागति माना गया है। गति के ये तीनों रूप अन्तर्यामी माने गए है। अग्नि एव सामरूपा तेजोमयी एव स्नेहमयी गतियुग्म को सूत्रात्मा कहा गया है। गति के ये पाचों रूप ही विश्वेश्वर अथवा अक्षर ब्रह्म या अक्षर प्राण की पाच कलाए है।

मूलत सभी गतियो का अवसान स्थिति मे हो जाता है। स्थिति मे हा सभी गतिया प्रकट होती हैं और उसी मे सबका अवसान हो जाता है। पदार्थ विज्ञान का सिद्धात है। "एता मूर्तिस्त्रयोदेवा, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरा ' दो गतिया स्नेहमयी अर्थात् मकाचमयी तथा तेजामयी अर्थात विकासमयी अग्नि एव सामम त्री है जो सृष्टि का स्वरूप प्रदान करने वाली है। इसोलिए जगत् का अग्नि-सोममय कहा गया है।

अग्नि सोम तत्व की भाति सपूण विश्व गति-स्थिति मय है। वह स्थिति भी ह ग्रार गतिमान भी है। विश्व का गतिमय रूप परिवतनशील ह एव अपरिवतनमय रूप स्थितिमय है। भिन्न भिन्न व्यवहार क आधार पर गति के जो पाच रूप ऊपर गिनाए गए है, वे ही विश्व का सचालन करते है। गति, आगति और स्थिति की समष्टि से हृदय नामक स्वतन्त्र तत्व स्वरूप बनता है, जिसमे सम्पूण गति सचरण होता रहता है। केन्द्र और परिधि को समष्टि ही हृदय है। हृदय शब्द का वज्ञानिक अथ भी वज्ञानिक भाषा मे गति आगति और स्थिति है। हृ ग्रार "यम्" के सयाग से हा हृदय बनता है जिसमे हृ का अथ है आहरण या आदान 'द" का अथ है परित्याग या विसजन "यम्" का अथ है नियमन इस तरह आदान-विसग और नियमन ही हृदय का स्वरूप है और यही क्रम आगति-गति और स्थिति का। प्रत्येक वस्तु का एक केन्द्र होता है ग्रार उसकी परिधि होती है। इस बीच गति तत्व के सचरण से ही उसका स्वरूप प्रतिष्ठित रहता है।

गति का मूल

गति का मूल यजुर्वेद है, जिसका स्वरूप अन्तरिक्ष है महाभूत के रूप मे वह वायु है परन्तु सम्पूण विश्व मे व्याप्त है। अणु परमाणु की क्रियाशीलता इसी तत्व के कारण है। कैमरे के प्रयोग मे गति तत्व का प्रत्यक्षीकरण किया जा सकता है। जब हम स्टिल कैमरे से फोटो खीचते है तो वह फोटो स्थिर या निष्क्रिय रहता है परन्तु ज्यो ही मूवी कमरे से फोटोग्राफी करते हैं, उसके चित्रो मे क्रियाशीलता दिखाई देती है। अलबत्ता स्टिल कमरे के फोटो मे गति तत्व है और मूवी कमरे े फिल्म म स्थितितत्व है। यदि स्थितितत्व चलचित्र मे न रहता तो तिया बनी ही नही रहती। स्टील कैमरे के फोटो मे यदि गति न

होती तो वह कभी धुधला ही नही पडता। इसी तरह गति और स्थिति का व्यवहार सम्पूर्ण जगत् मे होता रहता है।

स्थिति व गति की समष्टि सर्वत्र है। इसी युग्म को कई पर्याय पदो के रूप मे जाना जाता है जैसे कि विद्या-कर्म, ज्ञान-क्रिया, अस्ति-नास्ति, सत्-असत्, अमृत-मर्त्य, रस-बल इत्यादि। स्थिति का आधार बनाकर ही गति का सचार सभव है। हमारे पाव के नीचे ठोस जमीन होती है तभी हम अपना पैर बढा सकते हैं। यही सम्बन्ध आत्मा और शरीर का है। आत्मा से ही शरीर की प्रतिष्ठा है परन्तु आत्मा का प्रकाश भी शरीर से ही सभव है। यही दोनो का अन्योन्याश्रयभाव है और और गति स्थिति का पारस्परिक सम्बन्ध है।

❖

वराह वायु और गणपति प्राण का स्वरूप

भारतीय पुराण शास्त्र कपोल कल्पित नहीं है। उनमे मिथक रहस्य या कौतुक जैसी भी कोई बात नही है, बल्कि हमारे पुराण विशुद्ध वैज्ञानिक आधार पर रचे गये है। उनमे जो विचित्र विलक्षण पात्र देखने मे आते हैं, वे सृष्टि के महान् मौलिक तत्वो के प्रतीक है। निदान विद्या के द्वारा उनके अर्थो को खोला जा सकता है। वास्तविकता तो यह है कि पुराण ही वेद शास्त्र की कुजी है। "पुरा नवम् भवति' रूप मे ये चिरपुरातन ह चिरनवीन हैं। भगवान वेदव्यास ने वेद सहिताओ के सकलन से पूर्व पुराण सहिता का सकलन इसीलिये किया कि वैदिक तत्वो के अर्थ सहज और सरल बन जाय। सूतजी ने आगे चलकर १८ पुराणो की रचना की जिसमे एक वायु पुराण भी है।

वायु ही वराह

वराह अवतार के नाम से प्रसिद्ध भगवान के इस एक रूप से हम सभी परिचित है। वायु का ही एक नाम वराह है। "वणुते इति वर अन्वति इति अर, वराश्चासौ अहश्चेति वराह" यह वराह शब्द का स्वरूप वर्णन है। सृष्टि रचना के अग्रभूत विविध मौलिक तत्वो मे एक तत्व वायु ही ह। अग्नि-वायु आदित्य के आधारभूत तीन वेदो मे म एव यजुर्वेद का विस्तृत स्वरूप वायु ही है। वायु के अनेक रूप हैं जिनम एक रूप वराह है। सृष्टि रचना मे वराह की महती भूमिका है। वराह की एक भूमिका ऋतुरूप बिखरे हुए अग्निकणो को, अणु परमाणु को सगठित करके पिण्ड-रूप प्रदान करना और दूसरी भूमिका है पिण्ड के स्वरूप की रक्षा करना इसी का एक नाम मातरिश्वा भी है। पृथ्वी को । कहा गया है और पिण्ड मात्र को पृथ्वी कहा जाता है। इसी

स्वरूप-रक्षा करते रहने के कारण ही इस वायु को मातरिश्वा कहा गया है और इसे आवृत किए रहने के कारण ही इसे वराह कहा गया है। ब्रह्माण्ड मे प्रत्येक पिण्ड को वायु आवृत किये रहता है। यही उनको पिण्ड रूप मे बनाए रखता है।

जैसा कि पूर्व मे कहा जा चुका है, हमारी सृष्टि अप् तत्व से उत्पन्न हुई है। आपोमय समुद्र मे आग्नेय वायु के प्रवेश के कारण पानी का एक भाग घन हो जाता है। घनावस्था मे इस पानी को अपाशर नाम दिया गया है। आगे चलकर यही अपाशर (घन-परमाणु) पृथ्वी का रूप धारण कर लेते हैं। ये आप्यपरमाणु अथवा पार्थिव परमाणु घनावस्था मे भी आपोमय समुद्र मे ऋतु रूप से इतस्तत बिखर या फले रहते हैं। ईश प्रजापति का ही एक रूप मातरिश्वा वायु इन परमाणुओ को चारो ओर से घेरकर सकलित या सगठित कर देता है और ये परमाणु ही पिण्ड रूप धारण कर लेते है। सभी नक्षत्र पिण्ड आपोमय समुद्र से वायु द्वारा इसी तरह पिण्ड रूप धारण किये हुए हैं। इसी वायु ने इनको पिण्ड रूप प्रदान किया और यही वायु इनको वेष्टित किए रहता है, घेरे रहता है। यदि वायु न होता ये ऋतु रूप अग्निकण अपामय समुद्र मे ही डवे रहते। इसीलिए पुराण मे कहा गया है कि भगवान ने वराह का अवतार लेकर समुद्र मे डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार किया चूकि यह वायु अपोमय समुद्र मे व्याप्त आग्नेय घन परमाणुओ का एक ही साथ चारो ओर से घर कर समेटता है, उसे वराह कहा गया है।

विश्व मे स्वय भू, परमेष्ठि, सूय, चन्द्रमा और पृथ्वी ये पाच महा-पिण्ड माने गये है। ज्ञान-ज्योतिमय सभी पिण्ड स्वयभू नाम से ज्योतिमय सभी पिण्ड परमेष्ठि नाम स्वज्योतिमय सभी पिण्ड सूय नाम से, पर-ज्योतिमय सभी पिण्ड चन्द्र नाम से एव रूप ज्योतिमय सभी पिण्ड पृथ्वी नाम से जाने जाते है। इनके अतिरिक्त अगणित नक्षत्र तारकादि हैं, परन्तु सभी पाच जातियो अथवा पाच ज्योतियो मे विभक्त है।

विश्व के पाचो पिण्डो का स्वरूप भिन्न-भिन्न है अत उनसे सम्पृक्त वराह नामक वायु के नाम भी भिन्न-भिन्न है। उसका स्वरूप भी भिन्न है। स्वयभू हमारे विश्व का आदिपर्व या आदिस्वरूप है अत इसके वायु का नाम आदि वराह है। परमेष्ठि लोक विष्णु का लोक है और यज्ञ का

प्रवतक है। इसी लोक मे भृगु एव अगिरा तत्वो का उद्भव होता है। इसके वायु का नाम यज्ञ वराह है। भृगु अगिरा मे उत्पन्न अग्नि सोम के यजन का नाम ही यज्ञ है। भृगु अगिरा ही सोम एव अग्नि तत्व हैं। इन्ही के यज्ञ से प्रजा की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। परमेष्ठि के अनन्तर सूय लोक है जो मूलत घोर कृष्ण है परन्तु सोमाहुति के कारण श्वत ज्योतिमय रुप धारण करता है। इसको वेष्टित करने वाले वायु को श्वेतवराह कहा गया है। प्रकृति यज्ञ मे अग्नि वायु एव आदित्य का स्व रुप क्रमश होता, अध्वयु एव उदगाता है। वहा चन्द्रमा इस यज्ञ का ब्रह्मा कहा गया है इसीलिए चन्द्रमा के चारो ओर वेष्टित वायु को ब्रह्म वराह कहा गया है। भूमि पिण्ड को आच्छादित रखन वाले वायु को एमूप वराह कहा गया है। पाचो ही वराहो का सामान्य नाम मातरिश्वा है।

अन्न यज्ञ के प्रसग मे पहिले बताया जा चुका है कि वायु का उदभव अन्तरिक्ष से हुआ है और वह घत का निर्माता है। अन्न मे जो घृत की मात्रा है, वह वायु अथवा अन्तरिक्ष की देन है। अन्न की ही भाति अन्य सभी प्रजाओ मे घृत की मात्रा अन्तरिक्ष की ही देन है। पृथ्वी पर शूकर पशु मे घृत की मात्रा सर्वाधिक होता है इसीलिये इसको वराह प्रजापति का प्रतोक माना गया है। इसे मन्युमूर्ति (क्रोधी स्वभाव) भी बताया गया है। कहते है कि दो शेरो के बीच शूकर निर्भीक होकर निकल सकता है, परन्तु दो शूकरो के बीच एक शेर निरापद नही निकल सकता। तत्तरीय ब्राह्मण मे शूकर के लिये लिखा गया है-"पशूना वा एप मन्युयवराह"

वराह वायु एव शूकर पशु के व्यवहार-स्वभाव मे बहुत कुछ समानता देखी जाती है। वराह वायु भूपिण्ड से सटा रहता है। शूकर भी जब आवेश मे चलता है तो सू सू करता हुआ अपने एक शृग को भूपष्ठ से रगडता हुआ चलता है। नसिहलीला के दूसरे दिन वराहलीला मे वराह रुप मे जो मनुष्य प्रगट होता है वह भूमि पर लेट हुए सरपट दौडता है नृसिह की भाति सीधा नही दौडता। वराह वायु का भी इसी तरह सचरण भू पष्ठ पर होता ह।

मातरिश्वा

पृथ्वी पिण्डो के निर्माण मे वराह के मूल वायु मातरिश्वा की जो ।। रही है उसका भी एक वज्ञानिक स्वरूप है। मातरिश्वा की

भूमिका रेतोधा की है। प्रजा की उत्पत्ति मे तीन उपकरण रेत, योनि और रेतोधा बताये गये हैं। बीज स्वरूप रेत है, उसका ग्रहण करने वाली प्रतिष्ठा भूमि योनि है और बीज को योनि तक वहन करने वाला रेताधा कहा गया है। मनुष्य प्रजा मे पुरुष-शुक्र रेत है और स्त्री शोणित यानि है और शुक्र का शोणित तक प्रेषण करने वाला एवया मरन [मातरिश्वा का ही दूसरा रूप है जो गभधारण एव गभच्युति मे सहायक होता है। रेतोधा कहा गया है। आध्यात्मिक सस्था की ही भाति आधिदैविक सृष्टि मे भू अप तत्व रेत है, अनजदक योनि है और मातरिश्वा रेतोधा है। मातरिश्वा ने जब तक अपोमय समुद्र मे से पार्थिव परमाणुओ को सगठित करके नही निकाला था तब तक वे अपामय असुर प्राणो के अधिकार मे थे। मातरिश्वा ने ही उन्हे पिण्ड रूप प्रदान किया और असुर प्राणो मे मुक्त किया। यही कारण है कि हम वराह भगवान का असुरो का विरोधी एव देवताओ का हितैषी मानते है। देवता दिव्य प्राणा को कहते है जा सूर्य लोक या सूर्य मण्डल मे निवास करते है। असुर प्राणो का स्थान अपोमय परमेष्ठि लोक है। देवता ३३ होते हैं और असुर प्राण देव प्राणा से तीन गुने ९९ होत हैं।

वराह की तरह गणेश या गणपति का भी निश्चित वैज्ञानिक स्वरूप वेदो मे निहित है। गणपति को हम विघ्न विनाशक देवता के रूप मे पूजते हैं। लोक व्यवहार मे इसे हाथी का स्वरूप दिया गया है। आश्चय-जनक एव कौतुकमय एक पहलू इस देवता का यह है कि इसका वाहन एक क्षुद्र प्राणी मूषक को बनाया गया है, परन्तु जब इन प्रतीको का निदान किया जाता है, उनका वज्ञानिक स्वरूप प्रगट हो जाता है।

गणपति प्राण

ब्रह्माण्ड मे कितने ही प्राणो का सचार होता रहता है। सम्पूण ब्राह्माण्ड मे विविध प्राण व्याप्त है। स्वयभूलोक मे ऋषि प्राण व्याप्त है तो परमेष्ठि लोक मे असुर प्राण, सूय लोक मे सौर प्राण अथवा दिव्य प्राण हैं। इन्द्र प्राण, मधु प्राण इत्यादि की भाति ही गणपति नाम से भी एक प्राण व्याप्त है। इसे घन प्राण भी कहा जा सकता है। गणपति प्राण या घन प्राण सृष्टि मे प्रत्येक पिण्ड मे व्याप्त है। पिण्ड की प्रतिष्ठा गणपति प्राणा से ही सभव है। हमारे शरीर रूपी पिण्ड को प्रतिष्ठा-भी इन्ही गणपति प्राणो से है। गणपति प्राण के च्युत हो जाने पर

विशृंखल अथवा उच्छिन्न हो जाता है। इसी अवस्था को हम लोक भाषा मे निधन वा मरण कहते है। पिण्ड की प्रतिष्ठा मे काई विघ्न न आय यह काय गणपति प्राण का है। गणपति को इसीलिये विघ्नहारक कहा जाता है।

पृथ्वी पर इस आधिदैविक प्राण का प्रतीक हाथी को माना गया है, क्याकि जीवा म हाथी ही पिण्ड का उचित प्रतीक बन सकता है। उसका आकार और काम निर्माण भी पृथुल एव थल थल प्रकार का है। पृथ्वी पिण्ड म प्राण पीली मिट्टी मे निवास करते ह और पीली मिट्टी सम्पूर्ण पृथ्वी मे ह। उसो से पृथ्वी या पिण्ड स्वरूप बना है। पीली मिट्टी की सबस अच्छी पहिचान मूषक को होती है। वही घनप्राण का वाहक है। मूषक सम्पूर्ण पृथ्वी मे निवास करता है। मिट्टी मे वह बिल खोद कर रहता है और अपने पजा से बिल की मिट्टी को खोद खोद कर बाहर फेंकता रहता है। इस तरह वह न केवल पीली मिट्टी की पहिचान रखता है, बल्कि धरती की परत को भी बदलता-बनाता रहता है।

पृथ्वी पर जो साढे तीन सबसे बडे दल गिनाये जाते ह उनमे से एक मूषक दल है। दूसरे दल टिड्डी दल, चीटी दल और बादल [आधा दल] हैं। मूषक दल की इस अपार शक्ति और व्याप्ति से भी उसकी महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है। हमारे शासक कदाचित् मूषक-मार अभियान चलाने समय उसके विराट रूट से अनभिज्ञ रहते है। पृथ्वी पिण्ड की रक्षा घन प्राण के वाहक मूषक प्राणी का सर्वाधिक योग ह और इस पिण्ड के प्रतीक के रूप मे गणपति का स्थान देवो की पक्ति म अग्रणी है। आप देखेंगे कि हमारे यहा जब कभी काई अनुष्ठान हाता है ता गण-पति के स्थान पर पीली मिट्टी का एक पिण्ड रखा जाता है और उसकी पूजा की जाती है। यह पूजा अर्थहीन नही है।

अध्यात्म सस्था [शरीर] मे गणपति प्राण का स्थान वस्ति गुहा मे है। प मातीलाल जी शास्त्री ने गीता भूमिका "कर्मयोग परीक्षा" म एक अध्याय स्वात्मन कम पर लिखा ह, जिसके प्रारम्भ मे यह निर्देश दिया है कि मनुष्य का मलत्याग म कभी बल प्रयोग नहीं करना चाहिए। हमारे शरीर म जा सम्पूर्ण प्राणो का ग्रन्थि बन्धन [सेन्ट्राल पनल] है उसका स्थान रूप इसी गणपति प्राण से है। एक बार गणपति प्राणच्युत

हो गये तो फिर जीवन की रक्षा असम्भव है। लोकभाषा में इस प्राणच्युति को "मल टूट जाना" कहते हैं। गणपति प्राण के शिथिल होते ही मल की स्थिरता समाप्त हो जाती है। इसलिये कहा गया है कि मल-त्याग करते समय बल प्रयोग न किया जाय। आजकल डाक्टर भी यही परामर्श देने लग हैं। भले ही वे वेद विज्ञान से प्रेरित होकर ऐसा नहीं करते, परन्तु उनका परामर्श तो वेद-विज्ञान सम्मत ही है। कहते हैं शौचालय में जितने भी लोग "हार्ट फल" होने से मरते हैं उसका एक कारण मल विसर्जन में बल प्रयोग ही होता है। जोर लगाने से यदि मल टूट जाय तो गणपति प्राण उखड़ जाएगे और जीवन लीला समाप्त हो जाएगी। जयपुरी में एक कहावत है "कुयाड्यासू कपड़ा धोवे, बन्दायकजी साउय करजे" अर्थात् कुल्हाड़ी से कपड़े धोए तो गणेशजी क्या सहायता करे।

—※□※—

(धूम) केतुओं की उन्नीस जातिया

हेली के धूमकेतु की आजकल वडी चर्चा है, क्योकि यह केतु इन दिनो प्रकट है और दिखाई दे रहा है। पाश्चात्य वैज्ञानिको को इस विषय का ज्ञान कितना है, इसका एक नमूना तो यही है कि उनको केतु का नाम इत्यादि मालूम नही है अत जिस वैज्ञानिक हेली ने अठारहवीं शताब्दी के मध्य मे इसका अध्ययन प्रस्तुत किया उसने अपना ही नाम उसके साथ जोड दिया।

भारतीय ऋषियो ने ब्रह्माण्ड मे भ्रमण करने वाले केतुओ की विशद जानकारी हमे वैदिक विज्ञान के माध्यम से दी है, परन्तु दुर्भाग्यवश हम उसे विस्मृत कर बैठे। प मोतीलाल शास्त्री के ईशोपनिषद भाष्य के आधार पर एक बार पहिले भी धूमकेतु की चर्चा मै कर चुका हू। प्रस्तुत लेख मे प मधुसूदन ओझा के "कादम्बिनी" ग्रथ के आधार पर अग्रेतर जानकारी पाठको के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहूगा। "कादम्बिनी" पर्जन्य शास्त्र का ही एक अग है, जिसकी रचना ओझाजी महाराज ने वृष्टि विज्ञान की विस्तृत और स्पष्ट जानकारी सर्वसाधारण को देने के लिए की है।

जातियां

प मधुसूदन ओझा ने 'कादम्बिनी" मे वृष्टि विज्ञान के प्रसग मे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना का सक्षेप मे ब्यौरा दिया है जिसमे एक प्रकरण केतुओ का भी है। केतु की पहचान के सम्बन्ध मे उन्होने लिखा है कि कभी-कभी आकाश मे विकाण तेज वाले स्वप्रकाशमय पिण्ड दिखाई दिया करते है, वे ही केतु कहलाते ह। भूमि पर इन्द्र गोप कृमि [खद्योत] जिन्द, रत्न, मणि, आकाश मे उल्का ग्रह नक्षत्रादि के अतिरिक्त अग्नि ...न स्थानो मे ज्योति दिखाई देती है वही केतु है। इन केतुओ की सख्या

है। मोती की माला, कमल की जड, चादी, स्फटिकमणि की प्रभा वाले केतु किरण जाति के होते है।

आग्नेय जाति के केतु गुडहल, अग्नि और लाख की कांति वाले होते हैं। इनके शिखा नही होती। रुखे काली शिखा वाले काले रग के मृत्युद केतु होते हैं वे मृत्युद क्रूर होते है विना शिखा के गोल आकार के तेल और जल के समान कान्तिवाले केतु पार्थिव होते हैं। चादी, बरफ और मोगरे के फूल जसे शुभ और श्वेतकेतु सौम्य ह। ब्रह्मदण्ड-तीन शिखा वाला और तीन रग का होता है। सौम्य केतु उत्तर मे, पार्थिव केतु ईशान मे, मृत्युद दक्षिण मे और आग्नेय केतु आग्नेय कोण मे प्रगट होते है। पूर्व और पश्चिम मे किरण केतु भी उदय होता है।

84 मोटे तारो के झुण्ड वाले केतु विसर्पक होते हैं। ये चमकदार होते ह। श्वेत और स्निग्ध होते हैं। कनक केतु की पहिचान दो शिखा म ह। इनमे सात तारे होते है। इनमे से किरणे निकलती ह परन्तु ये कष्टकारी होते है। विकच केतुओ मे शिखा नही होती। ये स्निग्ध, किरणो से घिरे हुए और आकृतिवान तारो के एक ही झुण्ड में हैं।

तस्कर केतु वडे वडे होते ह और सूखे भी। अरुन्धती नक्षत्र की तरह ध्रुवते होत हैं और किरणो से आवृत्त होत ह। कौङ्कुम कतु लाल रग के तीन तारोवाले और तीन शिखावाले होते है ये अशुभ हैं। इनका प्रभाव भी अग्नि जैसा होता है और इनकी किरणे भी लाल होती ह। कीलक काली किरण वाले होते है। इनका आखिरी भाग भी काला होता ह। ये सूर्य मण्डल और चन्द्र मण्डल मे प्रगट होते है और दारुण प्रकृति के होते है। पाराशर ऋषि ने इनके तीन रूप अगिरा, कीलक और काक वताए ह। सूर्य मण्डल मे ये तीनो प्रगट होते ह परन्तु मनुमण्डल मे कीलक और काक ही प्रगट होते हैं। अगिरा का स्वरूप रथारूढ धनुधारी जसा होता है। काक केतु त्रिकोण एव भयकर होता है।

विश्वरूप केतु लाल, ज्वलत आकाश में आग उगलते हुए और अग्नि की आभावाले होते ह। अरुण केतु मे तारे नहीं होते। वे चामर की आकृति वाले, रुखे और इधर-उधर किरणें फेंकते है। इनका रग फीका लाल होता है। कुछ-कुछ कालिमा भी लिये होते। गण केतु तारा के झुण्ड मे होते है और एक ही मण्डल मे स्थित होते है। चार कोण श्वेत शिखा वाले केतु ब्रह्मज कहलाते है। कक नामक केतु चन्द्रमा

की सो ग्राभा प्रगट करते हैं। इनकी किरण [illegible] है या कौए को चोच की जैसी। कबन्ध केतु भस्म या कपूर जैसी श्वेत किरणें फेकते हैं। ये भिन्न-भिन्न ग्राकार के तारो के झुण्ड होते ह ग्रौर पीले व लाल कबन्ध [धड] की तरह दिखाई देते है। विपुल केतु श्वेत तारिकाग्रो का एक ही पु ज होता है।

ऊपर बताये गय एक हजार केतुग्रो के अतिरिक्त भी केतु होते ह जो जलकेतु, चल केतु, उर्मि केतु, भट केतु ग्रौद्दालक केतु, पद्म केतु, काश्यप कतु, ग्रावत कतु, रश्मि केतु इत्यादि नाम व जाति स जान जाते हैं। वसा केतु, कुमुद केतु कपाल केतु, मणि केतु ग्रौर कलि केतु भी क्रम से प्रगट होते रहते है। कतिपय ऋषि इनका क्रम नही मानते।

दाहिने हाथ की ग्रगुली की तरह ऊची शिखावाली उत्तर दिशा-गामी, लम्बा होता हुग्रा शूल की नोक जसी ग्राकृति की शिखा वाला चल केतु होता है। इसका उदय पश्चिम दिशा मे होता है। यह उत्तर दिशा मे सप्तर्षि मण्डल, ध्रु व ग्रौर ब्रह्म राशि को देखकर लौट ग्राता है। ग्राकाश मे ऊचा उठकर यह दक्षिण दिशा मे ग्रस्त होता है। 115 वष बाद यह फिर दिखाई देता हैं। यह दक्षिण म उज्जन, उत्तर मे देविका प्रयाग ग्रौर पुष्कर तक ग्रपना कुप्रभाव छोडता है। इस केतु के ग्रस्त होने के नौ महिने पहिले पश्चिम जलकेतु का उदय होता है। इसका फल नौ महीने का सुभिक्ष ग्रारोग्य ग्रौर क्षेम होता ह। ग्रन्य ग्रहो के दोषो का भी यह निवारण करता है।

जल केतु के बाद 14 से 18 वष के बाद ग्रन्तराल मे ग्राठ केतु उर्मि, शख, हिम, रक्त, कुक्षि, काम्र, विस्पण ग्रौर शीत नाम के उदय होते हैं। ये केतु यदि रुक्ष हो तो दुर्भिक्षकारी क्षुद्र जन्तुग्रो के नाशक ग्रौर ग्रशुभ होते है। यदि ये स्निग्ध हो तो सुभिक्ष ग्रौर क्षेम करते हैं। इन ग्राठ केतुग्रो मे से चार के ग्रस्त होने पर तारे के समान रूप मे भट केतु का उदय होता है। इसकी पू छ बन्दर की पू छ जैसी होती है ग्रौर पूव दिशा मे मुडी हुई होती है। यह तारा कृतिका के मुख्य तारे के समान होता है। जब तक स्निग्ध रहता ह, सुभिक्ष रहता है, परन्तु यह स्वभाव बदल कर जब रुक्ष हो जाता है पीडाकारी फल देता है।

ग्रौद्दालक ग्रौर श्वेत केतुग्रो का उदय ग्रर्द्धरात्रि मे होता है ग्रौर इनकी पूछ दक्षिण की ग्रोर मुडी हुई होती है। कककेतु का उदय एक

समान अ तराल से पूव और पश्चिम मे वारी-वारी से होता है। औद्दालक और श्वेतकेतु सात रात तक दिखाई देते है। ककनेतु कभी अधिक भी दिखाई देता है। उद्दालक केतु 110 वप वाद भट केतु के अ त मे पूव दिशा मे दिखाई देता है। श्वेत केतु के फल के बाद श्वेत पदम केतु एक रात के लिए दिखाई देता है और सात वप तक शुभ फल देता है।

काश्यप केतु रूखा, श्याम और जटा की सी आकृति वाला होता है। यह आकाश के तीन भागो का परिभ्रमण करके लौट जाता है 115 वप वाद पदम केतु अस्त के समय फिर लौट आता है। यह जितने महीने दिखाई देता है सुभिक्ष रहता है।

श्वेत केतु के अ त मे आधा रात को शख की कान्तिवाला आवत केतु दिखाई देता है। यह कुछ ही समय र, ता है और शुभ होता है। काश्यप व श्वेत केतु के समान ही रश्मि केतु का प्रभाव होता है। इसकी शिखा धूम वण की होती है और कृत्तिका के पीछे प्रगट होता है। रश्मि केतु विभावसु से उत्पन्न होता है और 100 वप वाद फिर दिखाई देता ह। यह कृत्तिका नक्षत्र के समीप ही प्रगट होता है।

वसा केतु सुभिक्ष भी करता है और महामारी भी। यह उदय के बाद उत्तर की ओर लम्बा होता रहता है। वसा केतु 130 वप बाद प्रगट होता है। अस्थि केतु कुफल दता है। शस्त्र केतु भी महामारी फैलाता है। कुमुद की आभा वाले कुमुद्केतु की शिखा पूव की ओर होती है। यह स्निग्ध एव श्वेत होता है। वसाकेतु के अत मे इसका उदय होता है। यह एक ही रात रहता है और 10 वर्ष तक शुभ फल छोड जाता है। पश्चिमी देशो के लिए यह अनुकूल नही होता। रोग पैदा कर सकता है। कपाल केतु अमावस्या की रात मे प्राची दिशा मे प्रगट होता है। इसकी किरणें धूम्र वण वाली होती है। यह 125 वप वाद कुमुद केतु के अ त मे तीन पखवाडे से कुछ अधिक रहता है।

मणिकेतु दूध की धारा के समान स्निग्ध शिखावाला होता है। यह सूक्ष्म तागे की तरह दिखाई देता है। यह कपाल केतु के अन्त मे पश्चिम दिशा मे दिखाई देता ह। उदय मे साढे चार महीना तक सुभिक्ष करता

मणिकेतु के अन्त म कालिकिरण रौद्रकेतु वैश्वानर वीथि मे 30 अश

ऊपर चढकर अस्त हो जाता है। 300 वर्ष 9 महीने के बाद फिर प्रगट होता है। इसकी शिखा नुकीली धूमिल, रूखी, तावे की तरह लाल शूल की आकृति वाली और दक्षिण की ओर मुडी हुई होती है।

एक है सवर्त केतु जो 1008 वर्ष मे एक बार सायकालीन आकाश मे प्रगट होता है और तीनों दिशाओं मे घूम जाता है। यह बडा अनिष्टकारी है। जब तक रहता है, दुर्भिक्ष, उत्पात, रोगादि फैलाता है जिस नक्षत्र को छोडता या स्पर्श करता है उसके अधीन देश विपत्ति ग्रस्त हो जाते हैं। ध्रुव केतु अनियत गति और अनियत वर्ण का होता है। प्रत्येक दिशा मे बदलती हुई आकृति के साथ दिखाई देता है। यह यदि ग्रह प्रागण या सेना मे दिखाई देता है तो उपद्रवकारी है।
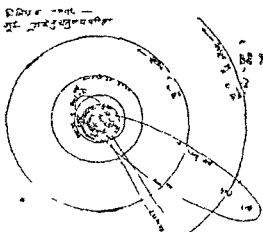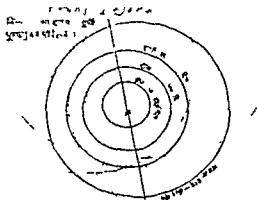
समान अ तराल से पूव और पश्चिम मे वारी-वारी से होता है। औद्दालक और श्वेतकेतु सात रात तक दिखाई देते हैं। ककेतु कभी अधिक भी दिखाई देता है। उद्दालक केतु 110 वप वाद भट केतु के अन्त मे पूत्र दिशा मे दिखाई देता है। श्वेत केतु के फल के वाद श्वेत पद्म केतु एक रात के लिए दिखाई देता है और सात वप तक शुभ फल देता है।

काश्यप केतु रूखा, श्याम और जटा की सी आकृति वाला होता है। यह आकाश के तोन भागो का परिभ्रमण करने लौट जाता है 115 वप वाद पदम केतु अस्त के समन फिर लौट आता है। यह जितने महीने दिखाई देता है सुभिक्ष रहता है।

श्वेत केतु के अ त मे आधा रात को शख की का तिवाला आवत केतु दिखाई देता है। यह कुछ ही समय र. ता है और शुभ होता है। काश्यप व श्वेत केतु के समान ही रश्मि केतु का प्रभाव होता है। इसकी शिखा धूम वण की होती है और कृत्तिका के पीछे प्रगट होता है। रश्मि केतु विभावसु से उत्पन्न होता है और 100 वर्ष वाद फिर दिखाई देता है। यह कृत्तिका नक्षत्र क समीप ही प्रगट होता है।

वसा केतु सुभिक्ष भी करता है और महामारी भी। यह उदय के वाद उत्तर की ओर लम्बा होता रहता है। वसा केतु 130 वप वाद प्रगट होता है। अस्थि केतु कुफल दता है। शस्त्र केतु भी महामारी फैलाता है। कुमुद की आभा वाले कुमुद्केतु की शिखा पूव की ओर हाती है। यह स्निग्ध एव श्वेत होता है। वसाकेतु के अत मे इसका उदय होता है। यह एक ही रात रहता है और 10 वप तक शुभ फल छाड जाता है। पश्चिमी देशो के लिए यह अनुकूल नही होता। राग पैदा कर सकता है। कपाल केतु अमावस्या की रात मे प्राची दिशा मे प्रगट होता है। इसकी किरणे धूम्र वण वाली होती है। यह 125 वप वाद कुमुद केतु के अ त मे तीन पखवाडे से कुछ अधिक रहता है।

मणिकेतु दूध की धारा के समान स्निग्ध शिखावाला होता है। यह सूक्ष्म तारे की तरह दिखाई देता है। यह कपाल केतु के अन्त मे पश्चिम दिशा मे दिखाई देता है। उदय के साढे चार महीना तक सुभिक्ष करता है। मणिकेतु के अन्त मे कालकिरण रौद्रकेतु वश्वानर वीथि मे 30 अश

जीव का शरीर धारण

तत्व ज्ञान की दृष्टि से भारत की सबसे बडी देन है आत्मा। आत्मा के विषय मे भारतीय जनमानस मे एक विशेष मान्यता है। आत्मा अजर, अमर, सर्वव्यापी इत्यादि कई विशेषणो से भूषित है। आत्मा 'न हन्यते, हन्यमाने शरीरे' गीता के इस महान सदेश को हम सम्पूर्ण आस्था के साथ मानते हैं, परन्तु हम मे से बहुत लोग यह नही जानते कि स्थूल शरीर धारण करते करते आत्मा का क्या स्वरूप बन जाता है, वह किस प्रक्रिया से शरीर रूप मे व्यक्त होता है।

प मोतीलाल शास्त्री ने अपने श्राद्ध विज्ञान नामक चार खण्डो के वृहत् ग्रन्थ मे इस विज्ञान की बडी ही विशद-विस्तृत व्याख्या की है। "श्राद्ध" भी कोई विज्ञान हो सकता है, यह बात आज किसी का गले नही उतरेगी, परन्तु शास्त्री जी के इस ग्रथ का पारायण करने के बाद बहुतो की धारणाये ध्वस्त हो जायेंगी। इन ग्रथ को जैविक विज्ञान की पाठ्य-पुस्तक के रूप मे वैज्ञानिको को पढाया जा सकता है। श्राद्ध विज्ञान के माध्यम से प्रत्यक्ष जाना जा सकता है कि जीव का निर्माण किस प्रकार होता है, उसका स्वरूप क्या है, आत्मा किस प्रकार शरीर से भिन्न तत्व है और देह त्याग के उपरान्त जीव की गति क्या होती है और किस प्रकार वह पुन शरीर धारण करता है। इस विधि से परलोक और पुनजन्म के सिद्धान्त की सत्यता भी स्वत सिद्ध हो जाती है।

श्राद्ध विज्ञान मे आत्मा के कई स्वरूप बताये गये हैं। जैसे अव्यक्तात्मा, महानात्मा, चिदात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, कर्मात्मा इत्यादि। इन्हे खण्डात्मक कहा गया है। प्रस्तुत निबन्ध मे महानात्मा पर ही विचार किया जायेगा, जिसका सम्बन्ध शरीर धारण करने से है। सूर्यलोक अथवा सूर्यमण्डल के ऊपर व्याप्त परमेष्ठिलोक को महत्

जानकारी का स्रोत

केतुओं की जानकारी जो कादम्बिनी में दी गई है वह ग्रन्थ लिखा ग्रन्थ मे देखने का नहीं मिलती। ऋतु विज्ञान के एक वरिष्ठ वैज्ञानिक डा रामनाथन् न मुझे बताया कि ओझाजी ने जो ऋतु विज्ञान रचा और उसमे केतुओं का जो जानकारी दी है, वह अनूठी और अनुश्रुत है। ओझाजी ने न केवल केतुओं की बल्कि ग्रह नक्षत्र, जल, विद्युत, मेघ, वज्र, उल्का, ज्वालामुखी, भूकम्प, वायु, अग्नि इत्यादि की विशद जानकारी दी है। ऋतु विज्ञान के विद्यार्थी और पडित भी इससे बहुत कुछ सीख सकते हैं। वर्षा की भविष्यवाणी तो कोई बड़ा काम नही। प्रश्न है अध्ययन और मनन का।

प० मधुसूदन ओझा वेद के अतिरिक्त भारतीय और पाश्चात्य ज्योतिष के भी गम्भीर अध्येता थे। रेखाकन का उन्हे बडा अभ्यास था। केतुओं का परिभ्रमण–मार्ग पर उन्होंने कई रेखाकन किए हैं। लगभग पूरे ब्रह्माण्ड को ही उन्होंने रेखाओं से नापने की चेष्टा की है। प्रस्तुत चित्र मे उन्होंने केतुओं के परिभ्रमण के मार्ग दर्शाये हैं जिनमे एक मार्ग हेली केतु का भी है।

--□--

जीव का शरीर धारण

तत्व ज्ञान की दृष्टि से भारत की सबसे बड़ी देन है आत्मा। आत्मा के विषय में भारतीय जनमानस में एक विशेष मान्यता है। आत्मा अजर, अमर, सर्वव्यापी इत्यादि कई विशेषणों से भूषित है। आत्मा 'न हन्यते, हन्यमाने शरीरे' गीता के इस महान संदेश को हम सम्पूर्ण आस्था के साथ मानते हैं, परन्तु हम में से बहुत लोग यह नहीं जानते कि स्थूल शरीर धारण करते करते आत्मा का क्या स्वरूप बन जाता है, वह किस प्रक्रिया से शरीर रूप में व्यक्त होता है।

पं मोतीलाल शास्त्री ने अपने श्राद्ध विज्ञान नामक चार खण्डों के वृहत् ग्रन्थ में इस विज्ञान की बड़ी ही विशद विस्तृत व्याख्या की है। "श्राद्ध" भी कोई विज्ञान हो सकता है, यह बात आज किसी का गले नहीं उतरेगी, परन्तु शास्त्री जी के इस ग्रथ का पारायण करने के बाद बहुतो की धारणायें ध्वस्त हो जायगी। इन ग्रथ को जैविक विज्ञान की पाठ्य-पुस्तक के रूप में वैज्ञानिकों को पढ़ाया जा सकता है। श्राद्ध विज्ञान के माध्यम से प्रत्यक्ष जाना जा सकता है कि जीव का निर्माण किस प्रकार होता है, उसका स्वरूप क्या है, आत्मा किस प्रकार शरीर से भिन्न तत्व है और देह त्याग के उपरान्त जीव की गति क्या होती है और किस प्रकार वह पुन शरीर धारण करता है। इस विधि से परलोक और पुनर्जन्म के सिद्धान्त की सत्यता भी स्वत सिद्ध हो जाती है।

श्राद्ध विज्ञान में आत्मा के कई स्वरूप बताये गये हैं। जैसे अव्यक्तात्मा, महानात्मा, चिदात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, कर्मात्मा इत्यादि। इन्हें खण्डात्मक कहा गया है। प्रस्तुत निबन्ध में महानात्मा पर ही विचार किया जायेगा, जिसका सम्बन्ध शरीर धारण करने से है। सूर्यलोक अथवा सूर्यमण्डल के ऊपर व्याप्त परमेष्ठिलोक को महत्

तत्व का उद्भव बताया गया है। परमेष्ठि को यज्ञ स्वरूप बताया गया है। यही भृगु अंगिरा नामक अग्नि साम तत्वो का प्रभव माना गया है। इसकी प्रतिष्ठा प्राणमय लोक स्वयभू (ब्रह्मा) और इसका प्रतीक विष्णु का बताया गया है। यही सम्पूर्ण देव, पत्र, एव भूत सृष्टि का कारक है। देव प्राणो से मुक्त देव-सृष्टि सूयलोक है, पितर प्राणो से युक्त पैतृसृष्टि चन्द्र लोक है और भूत सृष्टि पृथ्वी लोक है। या तो महत की सत्ता सभी मे है परन्तु चन्द्रमा उसका द्वितीय आवास है। चन्द्रमा परमेष्ठिलोक का ही क्षुद्र स्वरूप है, प्रवग्य है। परमेष्ठि लोक आपोमय है। यह पितरा और असुरो का लोक भी कहा गया है और चन्द्रमा भी उसका प्रवग्य स्वरूप है। चन्द्रमा ऊर्ध्व भाग मे पितर और अधोभाग म असुर प्राणो का निवास है। पार्थिव सृष्टि का माध्यम चन्द्रमा ही है। परमेष्ठि एव सूय लोक से जो तत्व, पदाथ, अणु–परमाणु, तरगादि भूत सृष्टि के निर्माण मे सहायक होते हैं, वे सभी चन्द्रमा के माध्यम मे ही भूतल पर आते हैं। चन्द्रमा ही इनका मुख्य द्वार है। चन्द्रलाक का जा पितर भाग है वही उपयुक्त महात्मा का सौम्य भाग है। यह किस प्रकार शरीर धारण करता है और किस रूप से शरीर त्यागकर पुन चन्द्रलोक मे अपने प्रभव स्थान मे पहुच जाती है यही विचार का विषय है, विज्ञान का विषय है।

वेद विज्ञान मे पदार्थ की उत्पत्ति के तीन भाग बताये गये ह (1) रेत (2) योनि एव (3) रेतोधा रेत बीज का रूप है। जहा जाकर बीज प्रतिष्ठित हो जाता है वह यानि है और बीज का यानि में प्रतिष्ठित करने वाला अर्थात् ले जाने वाला पदाथ रेताधा है। इन्ही तीन उपायो स महात्मा अर्थात् पितर प्राण शरीर धारण करते ह।

चन्द्रमा सोममय है। चान्द्र सोम श्रद्धानाम मे जाना गया है। यह जल का ही एक रूप है। यह रेत है। पर्जन्य नामक अग्नि यानि है। पावक नामक वायु रेतोधा है। उसी से वृष्टि सोम होतो है पृथ्वी पर गायत्री नामक यानि ह, आपोमय वृष्टि सोमरेत है आर "पवमान" नामक वायु रेताधा है। इसी वष्टि के द्वारा औषधिया की उत्पत्ति हाती है। औषधि म अन्न भी माना गया है जा हमारा आहार है। वद म अन्न की परिभाषा बडी व्यापक है परन्तु हम जिसे अन्न रूप मे जानते हैं वह धियो की सूची मे सम्मिलित है। हमारे शरीर मे वैश्वानर नामक जा

अग्नि व्याप्त है, वह योनि है, खाया हुआ अन्न रूपी सोम रेत है, अन्न है एव अशनाया (क्षुधा) के सूत्र मे बधा हुआ प्राण वायु रेत धा। इन तीनो के समन्वय मे शुक्र की उत्पत्ति होती है सातव धातु के रूप मे। शुक्र सोम रूप ह और महानात्मा भी चान्द्र माममय है। सजातीय भाव से यही महानात्मा शुक्र मे प्रतिष्ठित है जो चन्द्रमा से श्राद्ध नामक सोम के रूप मे औषधियो मे अवतरित होता हुआ मानव शरीर मे प्रविष्ट होता है। इस प्रकार परमेष्ठि मूल मे विस्मृत होकर यह महानात्मा मानव शरीर तक व्याप्त होता है। यह सम्पूर्ण जड चेतन सृष्टि मे भी व्याप्त है। मानवीय पुरुषाग्निमय शरीर मे जो शुक्रगत महानात्मा व्याप्त है, वह सभी शरीर के आतव (शापित) मे प्रविष्ट होकर नया शरीर धारण कर लेता है। यहा शुक्र रेत है। शापित योनि है एव एनया नामक मरुत रेतोधा है। एनमा मरुत गर्भधारण से लेकर प्रसव तक स्त्री शरीर मे व्याप्त रहता है।

मानव शुक्र से प्रतिष्ठित महानात्मा या पितर प्राण तीन गुणो सत-रज-तम से युक्त होता है। इन्ही तीन गुणो से मानव मे अहकृतिक प्रकृति एव आकृति का निर्माण होता है। मानव शुक्र मे अति सूक्ष्म रूप से व्याप्त महानात्मक यह निर्णय करता है कि उससे बनने वाले शरीर की आकृति क्या होगी, प्रकृति क्या होगी और अहकृति क्या होगी। आकृति एव प्रकृति को हम भलीभाति जानते है परन्तु अहकृति यहा भिन्न अर्थ रखती है। अहकृति मानव का स्वकीय केन्द्रीभूत भाव है। उसका लक्षण यह है कि वह सुप्तावस्था मे भी जागृत रहता है। जब ज्ञानेन्द्रिया और कर्मेन्द्रिया निद्रावस्था मे निश्चेष्ट हो जाती है तो उस अवस्था मे जो जागृत रहता है वही अहकृति भाव है। हमारी जैसी भी आकृति, प्रकृति, एव अहकृति है वह मूलत शुक्रस्थ महानात्मा मे ही निहित होता है। यही जैव विज्ञान का मूल है।

शुक्र मे प्रतिष्ठित महानात्मा तीन पितर प्राणो मे विभक्त हो जाता है जो पृथ्वी, अतरिक्ष एव आदित्य से सम्बन्ध रखते ह। पार्थिव पितर अग्नि प्रधान है, जिसके लिए कहा गया है अग्निभू स्थान आन्तरिक्ष पितर यम वायु मे युक्त है। आदित्य प्रधान पितर दिव्य कहे गये हैं। वैसे अग्नि, यम, आदित्य तीनो ही अग्नि ह। इन तीनो के साथ दिक् सोम, गन्धर्व नाम एव पवित्र सोम का समन्वय होता है। इस समन्वय से अग्नि यम

सोम एव आदित्य सोम बन जाते है। त्रिलोकी मे अर्थात् पृथ्वी अन्तरिक्ष एव आदित्य मे अग्नि सोम की सत्ता सवत्र है तथापि पृथक्-पृथक् स्थाना के सम्बन्ध से पृथक्-पृथक प्राणो मे अग्नि तथा सोम की मात्रा में न्यूना धिक्य होता है। महानात्मा मे तीनो ही पितर प्रतिष्ठित रहते हैं। दिव्य पितरो को नान्दी मुख, आन्तरिक्ष्य पितरो को याम्य एव पार्थिव पितरा को अश्रुमुख या आग्नेय कहा जाता है। दिव्य अथवा नान्दी मुखपितर प्राण महानात्मा मे सत्व गुण का विकास करते है वायव्यपितर रजोगुण का विकास करते है। और पार्थिव अश्रुमुख प्राण महानात्मा मे तमोगुण का विकास करते है। समन्वय पितर ज्ञान प्रधान, रजोमय पितर क्रिया प्रधान एव तपोमय पितर अथ प्रधान होते है। स्थल शरीर धारण करने पर ये तीना गुण प्रातिस्विक रूप से भिन्न भिन्न रूप मे परिलक्षित हाते हैं। यह बात हम आखो से देख सकते हैं।

तमोमय अथप्रधान पार्थिवाग्नि त्वष्टा नामक प्राण के याग मे व्यापक इन्द्र तत्व को खण्ड खण्ड मे विभक्त कर आकार रूप का अधिष्ठाता बनता है। आन्तरिक्ष यम वायु चान्द्र सोम के सम्बन्ध से इन्द्रिय प्रवतक प्रकृति भाव या क्रिया भाव उत्पन्न करता है एव दिव्य लोकस्थ आदित्य अह भाव का प्रवतक बनता है। जब तक यह अह भाव प्राणियो मे विद्य-मान रहता है तब तक ही उनका स्वरूप अस्तित्व मे रहता है।

इस तरह पाट् कौशिक महानात्मा का स्वरूप हमारे सामने आता है। ये पट क प हैं [१] सत्वगुण प्रवतक पवित्र सोम [२] अहङ्कृति भाव प्रवतक दिव्याग्नि [३] रजोगुज प्रवतक चान्द्र सोम [४] प्रकृति भाव प्रवतक आन्तरिक्ष्याग्नि [5] तमागुण प्रवर्तक दिक्सोम एव [6] आकृति भाव प्रवनक पार्थिवाग्नि। यही महानात्मा सम्पूण सृष्टि या प्रजा की आधारभूमि है। इसी मे सब आकृतिया, प्रकृतिया, अहङ्कृतिया तीनो गुण [सत्व, रज, तम] इसी मे त्रलोक्य [पृथ्वी अन्तरिक्ष एव आदित्य] इसी मे रुद्र [11] वसु [8] आदित्य [12] अश्विनीकुमार [2] कुल 33 कोटि के देवता, इसी मे 27 कोटि के चान्द्र गन्धव एव इसी मे पारमेष्ठम् 99 असुर निहित है। आपोमयी लोक सृष्टि इसी महान तत्व पर स्थिर है इसी पर सात पीढी पयन्त वितत होने वाले प्रजातन्तु अथवा सन्तति वितान की प्रतिष्ठा है। प्रजातन्तु वितान का विचार करते समय आद रभी इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला जायेगा। प्रकृत म मात्र

यह बताना है कि प्राणी के स्थूल शरीर धारण करने के उपक्रम, उपादान एव उपाय क्या है और उसका मूल स्वरूप क्या है।

विगत मे एक बार यह उल्लेख हुआ है कि जीव का स्वरूप क्या है। वश्वानर, तैजस और प्राज्ञ की समष्टि का ही जीव का स्वरूप बताया गया था। इस पर पुन एक बार भिन्न दृष्टि मे विचार कर लेना प्रासगिक होगा। इस प्रसग मे "इरा" नामक औषधि रस का उल्लेख करना आवश्यक है। और प्राण चान्द्र सोम मे युक्त होकर वृष्टि के माध्यम से औषधियों मे प्रविष्ट होते है तो "इरा" रस की उत्पत्ति होती है। हिरण्यमय और प्राण भी वृष्टि के द्वारा औषधियो मे व्याप्त होकर इरामय बन जाते है। यह "इरा' ही हमारा कर्मात्मा रूप जीव है, जिसमे वैश्वानर तेजस एव प्राज्ञ भी निहित होते हैं। वश्वानर उस असज्ञ सृष्टि का प्रवतक है, जिसे हम जड कहते हैं। इसमे लौह, पाषाणादि पदाथ सम्मिलित हैं। तेज से हमारी अर्द्ध सज्ञ सृष्टि प्रवतक है जिसे हम उद्भिज या औषधिवनस्पति कहते हैं।

प्राज्ञ का प्रवेश होते ही पदाय अपना स्थान छोड देता है अर्थात जीव धारण कर लेता है। प्राज्ञ तत्त्व हमारी असज्ञ सृष्टि का प्रवतक है जसे कृमि, कीट, पक्षी, पशु एव मनुष्य। हम देखते हैं कि वर्षा ऋतु मे कई बार लाखो करोडो कीट-पतग अकस्मात् प्रगट हो जाते हैं और तत्काल समाप्त हो जाते है। उनका प्रगट होना प्राज्ञ तत्व का ही तरग प्रवाह है या भाका है। प्राज्ञ तत्व का स्पश मात्र ही पदार्थ को हलचल मय बना देता है। इसी के अभाव म औषधि वनस्पति अन्त सज्ञ सृष्टि कहलाई अर्थात् उनमे सज्ञा ता है परन्तु अन्तर्भूत है। लोष्ठ-पाषाण सृष्टि को असज्ञ सृष्टि कहा गया है। इनमे सज्ञा कदापि नही है, परन्तु ये स्थिर रहते हुए भी शनै -शन परिवर्तित-परिवर्धित होन रहत हैं।

विश्व को पचपर्वा कहा गया है। स्वय भू, परमेष्ठि, सूय, चन्द्रमा और पृथ्वी विश्व के पाच पत्र है, जिसमे सूय को मध्यस्थ बताया गया है। सूय के नीचे ही सम्पूण सृष्टि है जिसे मत्यविश्व कहा गया है और सूय से ऊपर के दोनो लोक अमृतमय है। इसी दृष्टि से सूय को मध्यस्थ कहा गया है। सूय एव उसका मण्डल परमेष्ठिलोक के गभ मे है अर्थात्

सूय मण्डल को परमेष्ठि नामक लोक ने आवृत किया हुआ है। परमेष्ठि के विशाल मण्डल को आपोमय कहा गया है। यही भृगु, अगिरा जम महान तत्वो का उदभव है। सम्पूण सृष्टि का प्रारम्भक यही है। यही मूल तत्वो का यजन अर्थात यज्ञ होता है अत इसे यज्ञ लोक भी कहा गया है। यही महत् तत्व हैं, जो सृष्टि मे व्याप्त है। यही हमारी सृष्टि का आधार बनता है। यही महत, महान या महानात्मा हमारे शरीर अर्थात अध्यात्म जगत का भी आधार है। यही वह तत्व महान है जो सुषुप्ति अवस्था मे भी हमे सप्राण रखता है। [प० मोतीलालजी ने इस महान की एक झलक इस प्रकार प्रस्तुत की है–

जीवसस्था का अन्यतम अधिष्ठाता एकमात्र महानात्मा ही है। हमे (कमात्मा का) कुछ विदित नही, शरीर के भीतर अपने आप सम्पूण चक्र सुव्यवस्थित रूप से चल रहा है। यही महदक्षर, किंवा महदनात आकृति–प्रकति अहकति भेद का सचालक बनता है इसकी जसी इच्छा होती है, हमारी आव ति-प्रकृति अहकृति वैसी ही हो जाती है। हा, इसकी इच्छा का नियामक–पूवज मकृत भावना वासना सस्कारपु ज अवश्य ही मानना पडता है। पानी नीचे हो जाता है, अग्नि सदा ऊपर जाता है– "प्रसिद्धमूध्वज्वलन हविभज" सूय का नियत समय पर उदयाचल पर आना पडता है, नियत समय पर ही अस्ताचलानुगामी बनना पडता है।

पृथ्वी कभी क्रान्तिवृत्त को नही छोडती, चन्द्रमा दक्षवृत्त का परित्याग नही करता, यह सब उसी नियमित रूप मदहक्षर की महिमा है। मनुष्य के शृग (सीग) नही होते, पशु के होते है। कारण वही महानात्मा है। मनुष्य का महान सीग की इच्छा कर ऊपर के दातो की इच्छा करता है। इसो इच्छा से सीगो के स्थान मे ऊपर के दात बन जाते हैं। पशु का महान विचार करता है कि, पशु मे आक्रमण मे अपने आपको बचाने के लिए हाथ नहीं है, मैंने इसके दानो हाथो के आगे दा पर बना दिय है। अत रक्षाथ सीग बनाना आवश्यक है। इसी स्वेच्छा से वह पशु के ऊपर के दात न बनाकर ऊपर के सीग बना देता है, अन्वासोम (घनसाम) दान बनता है, वही सीग बनता है। महान् की इच्छा से वही मनुष्य मे दात बन गया है। वही पशु मे सीग बन गया है। सीग वाले जितने भी * उनमे ऊपर के दात नही होते, इसी अभिप्राय म ऐसी पशुप्रजा का

"एकतादत" कहा जाता है। यह उद्घोषणा पढ कर एक बारगी में अवाक रह गया, परन्तु जब सीग वाले कई पशुओ की जानकारी की और पशु-विशेषज्ञो मे बात की तो यह स्पष्ट हो गया कि बात सोलहो आने सही है। मैं स्वय वेद का प्रमाण मानता हू परन्तु कभी-कभी सत्य भी इतना चमत्कारी होता है कि मिथ्या लगने लग जाय। मैंने यह बात जिस किसी के सामने रखी सभी आश्चय चकित हो गये। अस्तु एव बिना सीग वाले हम पुरुष पशुओ को दोनो ओर दात होने से "उभयतोदत्" कहा जाता है। पक्षी का महान् अश्मासाम को न दात बनाता, न सीग। अपितु उसे वह ओष्ठोभाग मे प्रतिष्ठित कर देता है। यही ओष्ठ पक्षी की चचु (चोच) है। दात-सीग-चचु, तीनो का उपादानद्रव्य एक अश्मासोम है। केवल महान के इच्छा भेद से वही द्रव्य एक स्थान मे दात, एक स्थान मे सीग, एक स्थान मे चचु बन गया है। वानर (बन्दर) सदा श्रेणिभाग मे बैठता है। इसमें विज्ञान की कमी है। अतएव इस वानर का महान् इसके श्रेणिभाग का आघात से बचाने के लिए इस स्थान पर घनता उत्पन्न कर देता है बैठने के लिए आस्तरण बना देता है। गुप्तेन्द्रियो को परोक्षप्रिय महानात्मा गुप्त रखना चाहता है।

मनुष्य मे विज्ञान (बुद्धि) का विकास है। वह अपने बुद्धि बल से कार्पास (कपास-वल्कल आदि के वस्त्रो से अपने गुप्त अवयवो को ढक सकता है अत मनुष्य महान् ने वहा (गुप्तागो पर) अपनी ओर से आवरण लगाने की आवश्यकता न समझी, यह भार मनुष्य की बुद्धि पर छोड दिया गया। परन्तु पशुओ मे बुद्धि अल्पमात्रा मे प्रतिष्ठित है। अत वे स्वय अपने बुद्धिबल से गुप्त अवयवो को वस्त्रादि से गुप्त रखने मे असमथ है।

इसलिए इसके महान ने पुच्छ (पूछ) एव चमवेष्टन द्वारा उपस्थगुद आदि गुप्तागो को अपनी ओर मे आवृत कर दिया। पुरुष बुद्धिबल से अपने परो उपानत् (जूते) अथवा और किसी साधन विशेष ककड पत्थर आदि के आघात से बचा लेता है, अत यहा महान ने पैरो की रक्षा के लिए विशेष प्रयत्न नही किया, केवल एडी एव तलवो को घन बना दिया। परन्तु पशु उसी बुद्धिबल की कमी से अपने पैरो को काटे ककड आदि के आक्रमण से बचाने मे असमर्थ थे, अत वहा महान् को

शफ (खुर) बनाने पडे। निदशन मात्र है। आकृति प्रकृति अहङ्कृति, इन तीनो भावो मे व्यक्ति, एव जाति की अपेक्षा परस्पर मे आप जा भेद देखते है, वैचित्र्य पाते है, यह सब उसी महानात्मा का कर्म है। महान के इसी सर्वाधिपत्य का निरूपण करते हुए महर्षि श्वेताश्वतर कहते हैं।

> एकैक जाल बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे महरत्येष देव
> भूय सृष्ट्वा पतयस्तयेश सर्वाधिपत्य कुरते महात्मा।

यही महानात्मा है जो परमेष्ठि से चन्द्रमा मे आकर वृष्टि द्वारा अन्न मे और अन्न के माध्यम से पुरुष शुक्र मे और इसके अनन्तर स्त्री शोणित मे पहुच कर शरीर धारण करता है।

जीव की रचना

विगत मे मैंने यह प्रसग प्रस्तुत किया था कि जीव किस प्रकार स्थूल शरीर धारण करता है। इसी प्रसग मे अब जीव रचना पर भी सक्षेप मे विचार कर लेना उचित होगा। श्राद्ध विज्ञान के तृतीय खण्ड "सापिण्ड्य विज्ञानोपनिषत्" मे प० मोतीलाल शास्त्री ने जविक विज्ञान के इस पक्ष पर विस्तार से प्रकाश डाला है। इस विषय मे महत्वपूण शोध करने के लिए हमारे स्वनाम धन्य वैज्ञानिक हरगोविन्द खुराना को नोवल पुरस्कार भी प्राप्त हुआ। वे पदार्थ विद्या के विशारद है। इसी तत्व को श्राद्ध विज्ञान मे सहपिण्ड की सज्ञा दी गई है और सहपिण्डो की मूल सख्या 28 ही बताई हुई है। इन सह पिण्डो की रचना किस प्रकार होती है, जरा इस पर ध्यान दीजिए।

सहपिण्डो का आगमन

जीव के शरीर धारण के प्रसग मे यह बताया जा चुका है कि मानव शुक्र मे "महानात्मा" नामक जो तत्व प्रतिष्ठित होता है, उसका आगमन चान्द्र रस से वृष्टि एव औपधियों के माध्यम से होता है। इसी चन्द्र रस प्रणाली से शुक्र मे सह पिण्डो का आगमन होता है। चन्द्रमा से मानव शरीर तक पहुचने वाले प्राण नाक्षत्रिक रस या नाक्षत्रिक प्राणो से युक्त होते हैं। चान्द्ररस का वर्णन और पृथ्वी पर आगमन रात्रि मे होता है। चन्द्रमा सोम तत्व से युक्त है। दिन मे इन्द्र प्राण अर्थात् सौर रश्मिया इन्हे भोग लेती हैं अथवा पी जाती है। सोम इन्द्र का अन्न है। रात्रि मे इन्द्र प्राण अर्थात सौर रश्मिया शिथिल रहती है अत चान्द्र रस निर्विघ्न पृथ्वी पर पहु चता है। मानव शरीरस्थ शुक्र मे भी वह रात्रि मे ही पहु चता है। रात्रि मे जो सोमतत्व शुक्र मे प्रविष्ट ~
दिन मे सौर रश्मियो के कारण उसका परिपाक हो जाता है

घनत्व उत्पन्न हो जाता है। एक रात्रि और एक दिन में निर्मित हुए इस घनतत्व को सहपिण्ड कहा गया है। पिण्ड उसका घन रूप है। सह उस तत्व को कहा गया है जिससे मानव में साहस की रचना होती है। साहस का बीज रूप ही "सह" कहा गया है।

अक्षत का विवेचन

एक दिन और एक रात में बनने वाले सहपिण्ड को आह्निक कहा जाता है। इस सहपिण्ड को तन्दुल या अक्षत भी कहा जाता है। इसका विवेचन यों किया गया है कि यह सहपिण्ड इन्द्र प्राणों से क्षत नहीं होता। इन्द्रप्राण सोम का पान कर लेते है, यह ऊपर लिखा जा चुका है। जो 'सह' तत्व इन्द्र प्राणों के प्रभाव से मुक्त है क्षत नहीं होता उसे अक्षत कहा जाता है। लोक व्यवहार में भी यही बात लागू होती है अक्षत को हम चावल कहते है। वह अक्षत इसीलिए कहा जाता है कि इन्द्र प्राण उसको क्षत नहीं कर पाते। चावल वरुण प्रधान होता है क्योंकि चावल की खेती पानी में ही होती है। वरुण को पश्चिम का देवता माना गया है और इन्द्र को पूर्व का। इन दोनों में परस्पर वैमनस्य है। वरुण में इन्द्र का प्रवेश नहीं हो सकता इसीलिए चावल अक्षत बना रहता है। इसमें सोम की मात्रा प्रभूत होती है।

जिस प्रकार चावल अक्षत कहलाता है, रात्रि में आगमन के कारण शुक्र में प्रतिष्ठित सहतत्व भी अक्षत रहता है, इसलिए इसे अक्षत या तन्दुल कहा गया है। एक चान्द्र मास में शुक्र में प्रविष्ठ 28 तन्दुल की समष्टि एक पिण्ड बन जाती है। इसी को वेद विज्ञान में "बीजी" कहा गया है, जो मूल घन के रूप में सदैव शुक्र में प्रतिष्ठित रहता है।

सह पिण्ड, तन्दुल या अक्षत [illegible] से निरन्तर होता रहता है एक दिन रात [illegible] जिस प्रकार 'आह्निक' कहा गया है उस [illegible] वाले समग्र पिण्ड को मासिक पिण्ड [illegible] वाले पिण्ड को पाण्मासिक एवं एक चा[illegible] सावत्सरिक पिण्ड [illegible] एक [illegible] अत एक चान्द्र वर्ष [illegible] गायन भाग से दो [illegible] [illegible]त्सरिक पिण्ड [illegible]

13+2+1=16 बताई गई, परन्तु बीजी अथवा मूलधन के रूप मे 28 सहपिण्डो की समष्टि रूप एक चान्द्रमासिक पिण्ड ही शुक्र मे अवश्यमेव प्रतिष्ठित रहता है। यह जीवन की मूलभूत सत्ता है। इसके उत्क्रान्त हो जाने पर जीवन रक्षा असभव है।

शुक्र मे 28 त दुन से अधिक जो पिण्ड बनते रहते हैं, उनका व्यय भी होता रहता है। इस व्यय के लिए पाच तो गौण द्वार बनाए गए है और तीन प्रधान द्वार बनाए गए है। पाच गौण द्वार हैं–वाक्–प्राण–चक्षु –श्रोत्र एव मन। इन गौण द्वारो से भी सूक्ष्म रूप से शुक्र का विनिगमन होता रहता है। इसके अतिरिक्त तीन प्रधान द्वार है, जिनमे एक मूलेन्द्रिय है। इस द्वार से सन्तान की उत्पत्ति मे सहपिण्डो का व्यय होता है इस द्वार का उपयोग गृहस्थ अपने अधोभाग से सन्तान के लिए करते हैं। उनको अधोरेता कहा गया है। प्रजा तन्तु वितान मे यह अनिवार्य कर्म है। जो लोग गृहस्थ धर्म का पालन नही करते अर्थात शुक्र का व्यय नही करते है उनके शुक्र का उपयोग उन्ही के शरीर मे विभिन्न धातुओ की पुष्टि मे होता रहता है जो गृहस्थ उचित अर्थात मर्यादा पूर्ण जीवन निर्वाह करते है उन्हे भी शरीरावयवो का पुष्टि का लाभ मिलता है। उन्हे तिर्यक् स्रोता कहा गया है। जो लोग प्रजाकर्म मे सर्वथा विमुख है और अहर्निश स्वाध्याय, विद्याभ्यास, चिंतन एव मनन मे लीन रहते हैं उनका शुक्र शिरोभाग स्थित ज्ञानेन्द्रियो के मूल मे पहुचता है। उन्हे ऊर्ध्वरेता कहा गया है। जो जितने चिन्तनशील है, उनका शुक्र उतनी ही अधिक मात्रा मे व्यय होता है। शुक्र विनिगमन की उपर्युक्त तीनो अवस्थाओ को क्रमश अवपतन, आयतन एव उत्पतन कहा गया है।

उपर्युक्त पाच गौण एव तीन मुख्य द्वारो के अतिरिक्त किसी रूप मे शुक्र का व्यय निषिद्ध एव अनर्थपूर्ण माना गया है वैज्ञानिक आधार पर प्रजातन्तु वितान अर्थात् सन्तान धारा का वितान समझने पर ही इस तथ्य से भली भाति अवगत हुआ जा सकता है। शुक्र रक्षा उपदेश का विषय नही है, बल्कि विज्ञान का विषय है। यौन विज्ञान के तथाकथित विद्वान् जिस प्रकार आजकल शुक्र व्यय का पक्ष पोषण करते है, वह नितान्त अनिष्टकारी है। जीव की रचना सन्तान धारा के निर्वाह आदि के मूल के कारण हमारे वैज्ञानिको ने इसे महामांगलिक पदार्थ माना है

और सिद्ध किया है । यह विस्तार से गम्भीरता पूवक अध्ययन करने का विषय है ।

ऊपर स्हपिण्डो के निर्माण का विवेचन किया जा चुका है । प्रसगवश अब चन्द्रमा के उन तत्वो का भी विचार कर लिया जाए जा सहपिण्डो के निर्माण मे अपनी महती भूमिका रखते है । जसा कि विगत मे बताया जा चुका है औषधि (अन्न) का उत्पादन चान्द्र सोम से ही वष्टि के द्वारा होता है । सोममय इस चन्द्रमा के तीन मनोता–रेत, श्रद्धा-यश होते हैं । चन्द्र, सूर्यादि सभी के तीन तीन मनाता हाते हैं । वस्तु की पहचान बनाने वाले तत्व ही मनोता कहे जाते हैं । रेत–श्रद्धा और यश ही च द्रमा की पहचान है । ये तीनो तत्व निकल जाए तो च द्रमा की कोई पहचान ही न रहे । चन्द्रमा के सोम से निर्मित अन्न सष्टि मे भी य तीन मनोता निहित रहते हैं इन मनोताओ का सम्बन्ध क्रमश शुक्र ओज एव मन से होता है । अन्न मे पार्थिव, आन्तरिक्ष्य एव दिव्य धातु प्रविष्ट रहते है । शुक्र पार्थिव धातु है, ओज दिव्य हे और मन आतरिक्ष्य है । शुक्र मे रेत मनोता है, ओज मे यश है और मन मे श्रद्धा है । यश ओज से प्राप्त होता है । श्रद्धा मन से उत्पन्न होती है, शुक्र रेत मे बनता है । यही अवस्था हमारी अध्यात्म सस्था (शरोर) मे है । शुक्र के पार्थिव भाग से शरीर बनता है, दिव्य भाग से ओज बनता है और चा द्रभाग से मन की रचना होती है । सभी का मूल शुक्र मे प्रतिष्ठित पार्थिव, आतरिक्ष्य एव तत्व है ।

सन्तान उत्पत्ति

शुक्र के वारे मे सामान्य धारणा यह है कि यही स्त्री शरीर मे युक्त होकर सन्तान उत्पन्न करता है । वैज्ञानिक दृष्टि से यह पूणत सही नही है । वेद विज्ञान भी इस तत्व का विस्तार से विवेचन करता है । सक्षेप मे उसका उल्लेख कर लेना भी अप्रासगिक नही होगा । शुक्र का आशय पुरुष शरीर है । स्त्री शरीर मे इसी का पूरक तत्व आतव बताया गया है । इसी को शोपित भी कह सकते हैं । शुक्र-शोपित के यजन या मिश्रण मात्र से सन्तान नही होती है । पुरुप शुक्र मे पु–भ्रूण अथवा वषा नामक सूक्ष्म तत्व होते है । स्त्री शोपित मे स्त्रीभ्रूण अथवा योपा नामक तत्व होत है । शुक्र शापित मे सूक्ष्म रूप से प्रतिष्ठित वषा–योपा तत्वो के सयाग से ही स तान उत्पन्न होती है । यह भी वताया गया है स्त्रो पुरुप के मियुन , मे यदि शुक्र की मात्रा अधिक हुई तो पुरुप सन्तान उत्पन्न हाती है ।

मिश्रण मे यदि आर्तव की मात्रा अधिक हुई तो कन्या उत्पन्न होती ह । वैज्ञानिको ने यह भो बताया कि गभ की प्रारम्भिक अवस्था मे उसके लिंग को बदला जा सकता है । इसके लिए हमारे यहा 'पुंसवन" संस्कार प्रचलित है । यह बात दूसरी है कि पुंसवन केवल रिवाज बनकर रह गया और उसक वज्ञानिक पक्ष को भुला दिया गया । पुंसवन संस्कार गभ की दो मास की अवस्था तक विहित है । इसके लिए विशिष्ट रासायनिक याग अथवा पदाथ भो निर्दिष्ट किए गए है । ब्राह्मण ग्रन्थों स इसको विशद जानकारी प्राप्त की जा सकती है । ब्राह्मण ग्रन्था मे वद का कर्म काण्ड वर्णित हे ।

अन्त मे सापिण्ड्य विज्ञानोपनिषद् का सिद्धान्त उद्धृत करना आवश्यक है जिसमे कहा गया है कि मानव के शुक्र मे जा सह पिण्ड प्रतिष्ठित रहता है उसका क्रम सात पीढी तक बना रहता है । इसी का पितर प्राण कहा जाता है । ये प्राण भी सगात्र, सोदक और सपिण्ड भे- से तीन प्रकार के बताए गये हैं । सात पोढी तक पार्थिक पितर प्राणा का अस्तित्व बताया गया है । सोदक प्राण परमेष्ठि लाक से उत्पन्न है । परमेष्ठि अपतत्व का आधार है अप अर्थात् उदक अर्थात् पानी है । इन प्राणो का क्रम चौदह पीढी तक बताया गया है । सगोत्र प्राण ऋषि प्राणो से सम्बद्ध है । ऋषि प्राणो को प्रतिष्ठा स्वयभू लोक है । इनसे सगात्र पिण्ड बनत हैं और इनका अश 21 पीढी तक रहता है । इन्ही पिण्डो के आधार पर प्रजातन्तु वितान बनता है अर्थात् सन्तति क्रम चलता है । यह ठीक वैसा ही ताना-बाना है जसा कि कपडा बुनने का ताना बाना होता है । यह वितान चन्द्रमा से सम्बद्ध श्रद्धा सूत्र के द्वारा बनता है और यही श्राद्ध विज्ञान का आधार बताया गया ह जिसकी चर्चा अलग से कभी की जाएगी । फिलहाल इतना जान लेना आवश्यक है कि प्रजातन्तु वितान या सन्तति क्रम का निर्वाह करने के लिए जिन सहपिण्डों का ऊपर उल्लेख किया गया है वे धनात्मक हैं और 28 है । इन पिण्डो की समष्टि को मासिक पिण्ड या मूलबन कहा गया है । इसी मासिक पिण्ड को "बीजी" भी कहा गया है । इसके अतिरिक्त ऋणात्मक सह पिण्ड भी हाते हैं जो प्रत्येक मानव को अपने पूवजो से ऋण के रूप मे प्राप्त होते हैं । ऋण-धनात्मक सह पिण्डो की कुल सख्या 84 हाता है । सहपिण्ड मानव सन्तान मे सात पीढी तक विद्यमान रहत है, परन्तु पीढो दर पिढा उनकी मात्रा क्षीण होती रहती है । □

और सिद्ध किया है । यह विस्तार से गम्भीरता पूवक अध्ययन करने का विषय है ।

ऊपर सहपिण्डो के निर्माण का विवेचन किया जा चुका है । प्रसगवश अब चन्द्रमा के उन तत्वों का भी विचार कर लिया जाए जो सहपिण्डो के निर्माण मे अपनी महती भूमिका रखते हैं । जैसा कि विगत मे बताया जा चुका है औषधि (अन्न) का उत्पादन चान्द्र सोम से ही वृष्टि के द्वारा होता है । सोममय इस चन्द्रमा के तीन मनोता–रेत, श्रद्धा यश होते है । चन्द्र, सूर्यादि सभी के तीन तीन मनाता होते हैं । वस्तु की पहचान बनाने वाले तत्व ही मनोता कहे जाते है । रेत–श्रद्धा और यश ही चन्द्रमा की पहचान है । ये तीनो तत्व निकल जाए तो चन्द्रमा की कोई पहचान ही न रहे । चन्द्रमा के सोम से निर्मित अन्न सृष्टि मे भी ये तीन मनोता निहित रहते हैं इन मनोताओ का सम्बन्ध क्रमश शुक्र ओज एव मन से होता है । अन्न मे पार्थिव, आन्तरिक्ष्य एव दिव्य धातु प्रविष्ट रहते हैं । शुक्र पार्थिव धातु है, ओज दिव्य है और मन आतरिक्ष्य है । शुक्र मे रेत मनोता है, ओज मे यश है और मन मे श्रद्धा है । यश आज से प्राप्त होता है । श्रद्धा मन से उत्पन्न होती है, शुक्र रेत मे बनता है । यही अवस्था हमारी अध्यात्म सस्था (शरीर) मे है । शुक्र के पार्थिव भाग से शरीर बनता है, दिव्य भाग से ओज बनता है और चान्द्रभाग से मन की रचना होती है । सभी का मूल शुक्र मे प्रतिष्ठित पार्थिव, आतरिक्ष्य एव तत्व है ।

सन्तान उत्पत्ति

शुक्र के बारे मे सामान्य धारणा यह है कि यही स्त्री शरीर मे युक्त होकर सन्तान उत्पन्न करता है । वैज्ञानिक दृष्टि से यह पूर्णत सही नही है । वेद विज्ञान भी इस तत्व का विस्तार से विवेचन करता है । सक्षेप म उसका उल्लेख कर लेना भी अप्रासगिक नही होगा । शुक्र का आशय पुरुष शरीर है । स्त्री शरीर मे इसी का पूरक तत्व आतव बताया गया है । इसी को शोणित भी कह सकते हैं । शुक्र-शोणित के यजन या मिश्रण मात्र से सन्तान नही होती है । पुरुष शुक्र मे पुन्भ्रूण अथवा वपा नामक सूक्ष्म तत्व होते हैं । स्त्री शोणित मे स्त्रीभ्रूण अथवा योषा नामक तत्व हाते हैं । शुक्र शोणित मे सूक्ष्म रूप से प्रतिष्ठित वपा–योषा तत्वो के सयोग से ही सन्तान उत्पन्न होती है । यह भी बताया गया है स्त्री पुरुष के मिथुन मे यदि शुक्र की मात्रा अधिक हुई तो पुरुष सन्तान उत्पन्न हाती है ।

मिश्रण मे यदि आर्तव की मात्रा अधिक हुई तो कन्या उत्पन्न होती है। वैज्ञानिको ने यह भी बताया कि गर्भ की प्रारम्भिक अवस्था मे उसके लिंग को बदला जा सकता है। इसके लिए हमारे यहा 'पुंसवन' संस्कार प्रचलित है। यह बात दूसरी है कि पुंसवन केवल रिवाज बनकर रह गया और उसके वैज्ञानिक पक्ष को भुला दिया गया। पुंसवन संस्कार गर्भ की दो मास की अवस्था तक विहित है। इसके लिए विशिष्ट रासायनिक योग अथवा पदार्थ भी निर्दिष्ट किए गए हैं। ब्राह्मण ग्रन्थो से इसकी विशद जानकारी प्राप्त की जा सकती है। ब्राह्मण ग्रन्थो मे वेद का कर्म काण्ड वर्णित है।

अन्त मे सापिण्ड्य विज्ञानोपनिषद् का सिद्धान्त उद्धृत करना आवश्यक है जिसमे कहा गया है कि मानव के शुक्र मे जो सह पिण्ड प्रतिष्ठित रहता है उसका क्रम सात पीढी तक बना रहता है। इसी को पितर प्राण कहा जाता है। ये प्राण भी सगोत्र, सोदक और सपिण्ड भेद से तीन प्रकार के बताए गये हैं। सात पीढी तक पार्थिक पितर प्राणो का अस्तित्व बताया गया है। सोदक प्राण परमेष्ठि लोक से उत्पन्न है। परमेष्ठि अपतत्त्व का आधार है अप अर्थात् उदक अर्थात पानी है। इन प्राणो का क्रम चौदह पीढी तक बताया गया है। सगोत्र प्राण ऋषि प्राणो से सम्बद्ध है। ऋषि प्राणो की प्रतिष्ठा स्वयभू लोक है। इनसे सगोत्र पिण्ड बनते हैं और इनका अंश 21 पीढी तक रहता है। इन्ही पिण्डो के आधार पर प्रजातन्तु विताना बनता है अर्थात् सन्तति क्रम चलता है। यह ठीक वैसा ही ताना-बाना है जैसा कि कपडा बुनने का ताना बाना होता है। यह वितान चन्द्रमा से सम्बद्ध श्रद्धा सूत्र के द्वारा बनता है और यही श्राद्ध विज्ञान का आधार बताया गया है जिसकी चर्चा अलग से कभी की जाएगी। फिलहाल इतना जान लेना आवश्यक है कि प्रजातन्तु वितान या सन्तति क्रम का निर्वाह करने के लिए जिन सहपिण्डों का ऊपर उल्लेख किया गया है वे धनात्मक है और 28 है। इन पिण्डो की समष्टि का मासिक पिण्ड या मूलधन कहा गया है। इसी मासिक पिण्ड को "बीजी" भी कहा गया है। इसके अतिरिक्त ऋणात्मक सह पिण्ड भी होते हैं जो प्रत्येक मानव को अपने पूर्वजो से ऋण के रूप मे प्राप्त होते हैं। ऋण-धनात्मक सह पिण्डो की कुल संख्या 84 होती है। सहपिण्ड मानव सन्तान मे सात पीढी तक विद्यमान रहते हैं, परन्तु पीढी दर पिढी उनकी मात्रा क्षीण होती रहती है। □

प्रजा तन्तु वितान

पिछले लेख मे जीव रचना के प्रसग मे प्रजा तन्तु वितान अर्थात सन्तति क्रम का उल्लेख किया गया था । इस विषय पर श्राद्ध विज्ञान मे अतीव विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया है जिसका चर्चा सक्षेप मे प्रस्तुत है ।

जैसा कि बताया जा चुका है, प्रत्येक मनुष्य के शुक्र मे नाक्षत्रिक प्राणयुक्त चान्द्ररस से 28 सह पिण्डो का निर्माण होता है । इन 28 को बीजी या मूलधन कहा गया है । इनमे से 21 सह पिण्ड सन्तान उत्पन्न करने मे व्यय हो जाते हैं । प्रत्येक सन्तान अपने पिता से 21 सहपिण्डो का ऋण के रूप मे लेकर उत्पन्न होती है । बीजी मे मूलधन के सात सह पिण्ड बचे रहते हैं । इन सात को श्राद्ध विज्ञान मे आत्मधेय कहा गया है और सन्तान मे 21 सह पिण्डो को तन्य कहा गया है । बीजी मे अपने छ पीढी पहिले के पूर्वजो के 56 सहपिण्ड ऋण के रूप मे भी विद्यमान रहते है जिनमे से 35 सहपिण्ड वह अपनी आगे की छ पीढी को ऋण रूप मे दे देता है । बीजी के पास सात धनात्मक और 21 ऋणात्मक सह पिण्ड रह जाते हैं । पिता मे शेष रह सात धनात्मक सहपिण्डो को आत्मधेय पितर नाम से जाना जाता है और पुत्र को प्राप्त ऋणात्मक 21 सहपिण्ड सूनव कहे जाते हैं । इसी 21 सहपिण्ड समष्टि को "प्रथमावाप" बताया गया है ।

बीजी पिता से 21 मात्रा ऋण लेकर जन्म धारण करने वाले पुत्र मे भी स्वतन्त्र रूप से 28 सहो का आगमन होता है । वह अपने पुत्र अर्थात् बीजी के पौत्र को 21 सहो को ऋण देता है अर्थात् पौत्र की उत्पत्ति मे पिता से 21 सहो का ऋण मुक्त होता है किन्तु पौत्र को पिता से भी 15 सहो का ऋण प्राप्त होता है अर्थात् पौत्र मे पिता के 21

सहपिण्ड के अतिरिक्त पितामह के 15 सहपिण्ड भी रहते है। यहा पर उल्लेखनीय है कि प्रत्येक ऋणदाता अर्थात् पिता का 28 सहपिण्ड फिर प्राप्त हो जाते है। यह 28 सहपिण्ड प्रत्यक का मूलधन होता है, जिसमे जितने खर्च होते हैं, उतने ही पुन प्राप्त हो जाते है। यह आदान विसर्ग का क्रम पार्थिव शरीर मे सात पीढी तक चलता है। सातवी पीढी तक पहुचते-पहुचते केवल एक सहपिण्ड अपने पूर्वजो का रह जाता है। सहपिण्ड के इस आदान विसर्ग का क्रम दो भागो मे होता है। तीन चौथाई पिण्ड तय बनते हैं और एक चौथाई पिण्ड आत्मधेय रूप मे रहते है। इस विभाजन का भी विस्तृत विवेचन किया गया है जो अग्रेतर अध्ययन का विषय है।

इस प्रसग मे यहा यह उल्लेख भी अनावश्यक नही होगा कि नवीन सन्तान की उत्पत्ति के बाद उसमे सहपिण्ड का निर्माण 16 वर्ष की आयु से होता है। चन्द्र सवत्सर की 16 आवृत्तियो के बाद ही वह पूर्ण पुरुष षोडशकल बनता है इसीलिए कहा गया है कि "प्राप्ते षोडशे वर्षे पुत्र मित्रवदाचरेत्"

पिता मे पुत्र का प्राप्त होने वाले सहपिण्डो को पितृऋण की सज्ञा दी गई है। पितृऋण मे ही ऋषि ऋण और देवऋण भी निहित है। पितृ ऋण का यह क्रम 21+15+10+6+3×1 के क्रम मे सातवी पीढी तक बना रहता है। इस तरह कुल ऋणात्मक सहपिण्डो की सख्या 56 हो जाती है। धनात्मक 28 सहपिण्डो को बीजी या मूलधन बताया गया है। इस तरह ऋण धनात्मक कुल सहपिण्डो की सख्या 84 हो जाती है। धनात्मक पिण्डो को आवाप पिण्ड भी कहा गया और बीजी सहपिण्डो का पितृ सह कहा गया है। शुक्र गत सभी सहपिण्डो का आवापन चन्द्रमा से प्राप्त महानात्मा के द्वारा ही होता है। महानात्मा या महत् नामक योनि भाव का प्रवर्तक है। वही आकृति, प्रकृति एव अहकृति का प्रवर्तक है। उसी महत् के द्वारा व्यूहन से इन 84 सहपिण्डो का विस्तार 84 लाख योनियो म होता है। सृष्टि मे कुल योनिया 84 लाख बताइ गई है। इसी के लिए भगवान ने गीता मे कहा है "ममयोनिर्महद् ब्रह्म'

सहपिण्डो का वश परम्परा से क्या सम्बन्ध है और किस प्रकार है, इसका भी विचार कीजिए। बताया गया है कि जीवात्मा शरीर परित्याग के बाद सूक्ष्म रूप मे चन्द्रलोक की ओर प्रस्थान करता है।

जीवात्मा का चन्द्रमा के साथ सजातीय भाव या सम्बन्ध पहले ही महानात्मा के संदर्भ में बताया जा चुका है। शुक्रगत महानात्मा का प्रभव चन्द्रमा है। शरीर धारण के समय भी वह चन्द्रमा से ही वृष्टि, औषधि एवं शुक्र के माध्यम से आता है और शरीर परित्याग के उपरान्त सजातीय आकर्षण के कारण वहीं चला जाता है। जीव की इस मात्रा में उसका सूक्ष्म आकार आंगुष्ठ मात्र बताया गया है, परन्तु वह चर्म चक्षुओं से दिखाई नहीं पड़ता। उसके इस आकार का अतिवाहिक शरीर कहा जाता है। जिस समय वह शरीर का त्याग करता है, उस समय चन्द्रमा जिस दिशा में जिस मार्ग पर होता है आतिवाहिक शरीर उसी दिशा में "तृण जलौका" गति से प्रस्थान करता है। तृणजलौका [बरसात में पैदा होने वाला जन्तु कचुआ] आगे के पैर जमा कर पीछे के पैर छोड़ता हुआ सरकता है। इसी गति से हमारा अतिवाहिक शरीर भी प्रस्थान करता है। उसकी इस आतिवाहिका मात्रा में एक चान्द्र संवत्सर पूरा हो जाता है। अर्थात् 13 मास के बाद वह चन्द्रलोक में जाकर प्रतिष्ठित हो जाता है, परन्तु उसका सम्बन्ध अपने वंशजों के साथ सात पीढ़ी तक बना रहता है। उसका यह सम्बन्ध चन्द्रगत श्रद्धा सूत्रों के द्वारा बना रहता है। आतिवाहिक शरीर में सात सहपिण्ड रह जाते हैं। शेष 21 सहपिण्ड उसे अपने वंशजों की अगली छः पीढ़ियों से पुनः प्राप्त होते हैं। जब-जब पुत्र-पौत्रादि की लीला समाप्त होती जाती है, उसके सहपिण्डों का पिण्ड प्रत्यर्पणक्रम सम्पन्न होता रहता है। जब तक वंशज भूमि पर विद्यमान रहते हैं प्रेत पितर चन्द्रलोक में प्रतिष्ठित रहते हैं। जब अपने वंशजों से अपने पिण्ड पुनः प्राप्त होते हैं अर्थात् कुल 28 बन जाते हैं वह अपने पूर्ण भाव को प्राप्त हो जाते हैं। चूंकि वंशज अपने प्रेत पितरों को चन्द्र प्रतिष्ठा से गिरने नहीं देते। इसीलिए उन्हें अपत्य भी कहा जाता है।

आतिवाहिक शरीर के विषय श्राद्ध विज्ञान में यह निरूपण है कि स्थूल शरीर की जो लोग दाह क्रिया करते हैं उसमें पंचमहाभूत से बनने वाले अंग तो पंचमहाभूतों से मिल जाते हैं। इसी को कहते हैं पंचत्व को प्राप्त हो जाना। जो प्राणात्मक सूक्ष्म तत्व होते हैं वे जीव के प्राण सघान पर कर्मों के साथ सूक्ष्म रूप में चन्द्रलोक को प्रस्थान करते हैं। जब तक महानात्मा स्वरूप प्रेत पितरों का सापिण्ड्य भाव पूर्ण नहीं होता, ने गाय यह सघात भी चन्द्रलोक में ही रहता है। तदनन्तर प्राण

सघान अपने कम समुच्चय के साथ अन्य सवधित लोको मे चले जाते हैं और कर्मानुसार काल भोग करने के बाद जीव पुन स्थूल शरीर धारण करता है। वह किस योनि मे जाता है। यह उसके कम समुच्चय पर अर्थात् प्रारब्ध पर निभर करता है कर्मो का सगजीवन व्यापार मे होता ही रहता है। सबकी रचना भूत, प्राग एव महत् से होती है। उन्ही मे सभी का लय भी हो जाता है जो लाग मरणोपरान्त दाह क्रिया नही करते, उस जीव का सूक्ष्म शरीर भी इसी तरह विनिगमन करता है अलबता स्थूल शरीर दीघ काल मे क्षीण होता ह।

पृथ्वी पर जो मनुष्य रहते है, उनमे अपने पूवजा का जो एक अश रहता है, उसका प्रेत पितरो के साथ सापिण्डय भाव से सम्बन्ध रहता है। चन्द्रमा मे आगत श्रद्धा सूत्र इस सम्बन्ध मे निर्वाह करते है। श्रद्धा चन्द्र-लोक मे व्याप्त जल है जो सूत्र रूप मे प्रत्येक प्राणी मे सलग्न रहता हे। जलाञ्जलि की क्रिया का आधार भी यही है। पिण्डदान का कम सापिडय भाव की रक्षा के लिए निर्दिष्ट किया गया है। बहुत लोग इसे दकियानूसी या अन्ध विश्वास का रूप मानते है परन्तु यह पूणत वज्ञानिक कर्म बताया गया है।

हाल मे इगलण्ड मे एक नई विद्या का विकास किया गया है जिसे 'रेडियानिक्स कहा जाता है। बी बी सी से प्रसारित पाच वैज्ञानिको के वक्तव्यो को मैंने पढा तो मेरा यह विश्वास अधिक दृढ हुआ। रेडियोनिक्स के आधार पर वैज्ञानिको ने एक युवक का चित्र न्यूयाक की एक प्रयोगशाला मे रखा। युवक को लन्दन मे रखा गया। न्यूयाक मे स्थित उसके चित्र पर हल्की रोशनी डाली गई और लन्दन मे बठे हुए रोगी पर उसका प्रभाव पडा उसे शक्ति मिली। इसी तरह के प्रयोग कुछ जन्तुओ पर और फसलो पर भी किए गए और सफल हुए। रेडियोनिक्स मे अभी इतना प्रावधान हो गया है कि चित्र की [तरह रक्त और केशो के माध्यम से भी दूरस्थ रोगो का निदान या उपचार किया जा सकता है। एक वैज्ञानिक क्लेरेनिस विन्सेस्टर ने अपने वक्तव्य मे यह भी कहा है कि स्वर का नादक [नादका] हमारे जीवन मे अत्यधिक महत्व हो सकता है हमे अन्तत गिरजाघरो के धाटा की शरण मे जाना पडे। इससे प्राथना, जप, कीतन इत्यादि की साथकता प्रत्यक्ष सिद्ध होती है। रेडियोनिक्स के आविष्कर्ता इसे भविष्य का विज्ञान बताते है।

इस वैज्ञानिक ने दर्शन, विज्ञान और पन्थ की एकता पर भी जोर दिया है। रेडियानिक्स के जिन वैज्ञानिकों के भाषणों का प्रसारण बी बी सी ने किया है उनके नाम हैं जो डब्लू डिलावर, आर डी फोन्दे, डगलस एम बेकर और क्लेरेन्स विन्चेस्टर। वैज्ञानिकों ने यह स्थापना की है कि पदार्थ और जीव के बीच कोई रपट [योजक] अवश्य है तथा कोई अन्तर्निहित शक्ति है जो अब तक वैज्ञानिकों के ध्यान में नहीं आई। अपनी इसी नई खोज के बल पर रेडियोनिक्स का इन्हान भविष्य का विज्ञान बताया है।

वैज्ञानिकों का कार्य सचमुच सराहनीय है और मंगलमय है, परन्तु वास्तविकता तो यह है कि वे आज भी कहीं नहीं पहुँचे और जो नई खोज नहीं की है उसे लेकर कहीं नहीं पहुँच सकते। वेद विज्ञान में जिसे महत्तत्व बताया गया है वास्तव में वही वह तत्व है जिसे पदार्थ और जीव के बीच रेपट बताया गया है। वह सम्पूर्ण चराचर में विद्यमान है। वही सब आकृति, प्रकृति एवं अहंकृतियों का कारक है। इसका निरूपण पहले किया जा चुका है। वैज्ञानिक इस तत्व का गहन अध्ययन करें तो उनका कल्याण होगा।

अब जरा प्रजा तन्तु विज्ञान अर्थात् संतति क्रम के स्वरूप पर विचार किया जाए। शुक्रस्थ महानात्मा 84 पिन प्राणात्मक सह पिण्ड के द्वारा ही प्राजातन्तु वितान में समर्थ होता है। जिस प्रकार वस्त्र निर्माण की प्रक्रिया में ताना और बाना बनाया जाता है, उसी प्रकार संतति क्रम का भी ताना बाना बन जाता है। हमारे 6 पूर्वजों से आगत सूत्र और ६ वंशजों में वितान सूत्र मिलकर ही यह ताना बाना बनाते हैं। एक तन्तुवाय (जुलाहा) की तरह प्रजापति भी अपना ताना बाना सृष्टि में बुनता है। प्रजापति कोई चार हाथ, तीन नेत्र और पांच मस्तक वाली प्रतिमा नहीं है बल्कि वेदत्रयी से संयुक्तसत्ता है जो सृष्टि का उपादान बनती है। वही जीव का ताना बाना बुनती है। पुन पौत्रादि में ऋजु भाव से वितत होने वाला 'तन्त्र' भाग ही ताना है और तन्त्र पर प्रतिष्ठित होने वाला आत्मधर्य भाग ही बाना है। यह ऋणधन युक्त सहपिण्डों से बनता है, जिसका उल्लेख संक्षेप में ऊपर किया जा चुका है। यह पूर्णत वैज्ञानिक क्रिया है जिसमें रहस्यात्मक कुछ भी नहीं है। केवल जानकारी की जरूरत है जो प मोतीलालजी ने अपने गहन अध्ययन एवं विशद

परिश्रम, ज्ञान गाम्भीय एव लोककल्याण की भावना से प्रेरित होकर 1800 पृष्ठो के श्राद्ध विज्ञान के चार खण्डो मे दी है। उसका साराश भी एक परिलेख मे देना सभव नही। यहा कुछ मोटी-मोटी बातो की चर्चा मात्र की गई है।

ज्ञान मार्गी सन्त कबीर ने भी प्रजा तन्तु वितान के इस ताने बाने की चर्चा अपने एक पद मे की है जो सुप्रसिद्ध है। देखिए –

झीनी झीनी बीनी चदरिया
काहे का ताना, काहे की भरनी।
कौन तार से बीनी चदरिया
इगला पिंगला ताना भरनी
सुषमन तार से बीनी चदरिया
आठ कवल दलचरखा डोले
पाच तत्त बुन तीनी चदरिया.
साई को सीमत मास दस लागे
ठोक-ठोक के बीनी चदरिया
दास कबीर जतन सौ ओढी
ज्यो की त्यो धर दीनी चदरिया।

इस पद मे "सुषमण" तार का जो उल्लेख है वह चन्द्रमा के वक्ष स्तल से स्पर्श करके निकलने वाली सुषुम्ना नाडी है। पृथ्वी पर चान्द्र रस या चान्द्र प्राणो या चान्द्र तत्वो का पहुचाने वाली यह नाडी है। इसके लिए यह दार्शनिक सिद्धान्त भी या है 'सौषुम्णश्चान्द्र रश्मि"। ग्रह नक्षत्र, सौर, द्वादश आदित्यादि आधिदैविक प्राण जो पृथ्वी पर आते है वे चन्द्र मण्डल से होकर सुषुम्ना नाडी के द्वारा आगत होते है, इसलिए कहा गया है कि पार्थिव प्रजा का उपादान-द्रव्य चन्द्रमा ही है।

शास्त्रीजी ने शास्त्र विज्ञान मे उन सभी शकाओ का भी निराकरण किया है जो श्राद्ध की निन्दा करने वाले उठाया करते हैं परन्तु एक प्रश्न उन्होने स्वय अनुत्तरित ही छोड दिया है और वह शाश्वत् प्रश्न प्रजातन्तु वितान के प्रसग मे यह तो बताया गया है कि किस प्रकार ऋण धनात्मक सहपिण्डो का तारतम्य बना हुआ है परन्तु यह नही बताया कि वह कौन था जो सर्वप्रथम, उत्पन्न हुआ और जिसने कोई ऋण ही नही लिया।

शास्त्रीजी ने कहा है कि प्रथम तो इस प्रश्न का सीधा सम्बन्ध श्राद्ध विज्ञान मे नही है। परन्तु यह प्रश्न अपने आप मे ही शाश्वत् है। इसका कोई उत्तर नही है। यह प्रश्न शास्त्रो मे ही प्रस्तुत है 'प्रथम जायमान को ददश" अर्थात सब प्रथम कोई उत्पन्न हुआ ? श्राद्ध विज्ञान के ही आत्मोपनिषद मे भी जिस मूल सत्ता को परात्पर कहा गया है, उसके बारे मे कहा गया है कि उसका भान तो हो सकता है, परन्तु ज्ञान नही हो सकता। उसे अनिर्वचनीय, अचिन्त्य एव अखण्ड, विशुद्धात्मा भी कहा गया है, परन्तु उसकी जानकारी नही की जा सकती। उसे इसीलिए शास्त्रानधिकृत अर्थात् शास्त्रो की सीमा के बाहर माना गया है। श्राद्ध विज्ञान तो सवथा लौकिक जीवन का विज्ञान है जिसका यज्ञ विज्ञान से भी सीधा सम्बन्ध नही है, परन्तु यह अपने आप मे अतीव महत्व का विज्ञान है। इसका सम्बन्ध जीवन मरण के क्रम से है। इसे ऋण मोचन विज्ञान कहा गया है। आनण्य विद्या इसी का नाम है अर्थात् ऋण से रहित होना मनुष्य ऋण से मुक्त तभी हो सकता है जबकि उसे जीवन देन वाले पितृ ऋण, ऋषिऋण एव देवऋणो को वह चुका दे। इसी का विशद-विस्तृत विवेचन श्राद्ध विज्ञान मे है।

—❀❀—

यज्ञ का स्वरूप

यह सही है कि यज्ञ मे पशुबलि आवश्यक है परन्तु यह भी सही है कि वेद मे यज्ञ का जो स्वरूप और विधान है, वह आज नही है और शास्त्रो ने यज्ञ को कलि वर्जित कहा है अर्थात् कलियुग मे यज्ञ करना वर्जित है। शास्त्र सम्मत निणय यो है कि कलियुग मे शास्त्र मर्यादा शिथिल हो जाती है अत यज्ञ नियोगादि अति पुनीत-विहित कर्मो का निषेध किया गया है। शास्त्रकारो को आशका रही है कि शास्त्र मर्यादा शून्य समाज मे यज्ञ नियोग कार्यो की अनुमति देने से अनाचार फैल जाने की प्रबल सभावना है अत उन्हे वर्जित कर देना उचित है। शास्त्रकारो की आशका का ऐतिहासिक प्रमाण भी हमारे सामने है। भगवान बुद्ध ने वेदो के नाम पर होने वाली राष्ट्रव्यापी जीव हिंसा के विरुद्ध ही अभियान छेडा था। यज्ञो के नाम पर व्याप्त अनाचार उन्हे सहन नही हुआ। उन्होने सम्पूर्ण वैदिक कम काण्ड पर प्रचण्ड प्रहार किया और वेद-निष्ठ भारतीय प्रजा ने ही उन्हे भगवान और अवतार की श्रेणी मे प्रतिष्ठित किया। इसका आशय यह मानना चाहिए कि भगवान बुद्ध ने वेद पर प्रहार नही किया बल्कि उन्होने वेद की रक्षा की। जिस यज्ञकम को शास्त्रो ने कलि वर्जित माना, उसी प्रचार पर भगवान बुद्ध ने प्रहार किया और शास्त्र मर्यादा की रक्षा की।

भगवान बुद्ध वेद भक्तो के कोपभाजन भी बने परन्तु इसलिये कि उनका अभियान यज्ञ प्रपच के विरुद्ध होने के साथ वेद सस्कृति के ही विरुद्ध हो गया था।

आज भी हम देखते है कि यज्ञ के नाम पर गाव-गाव मे अपरिमित मात्रा मे अन्न-घृत का होम किया जा रहा है, परन्तु इन यज्ञो को अग्नि होत्र ही कहा जायगा। यज्ञ की श्रेणी मे इन्हे कदापि नही रखा जा

सकता। अग्नि होत्र का वायु शुद्धि का माध्यम भी बताया जा रहा है और उपचार कार्य भी। कहीं-कहीं ग्रह-शान्ति तथा वृष्टि-वध-मारणादि के लिए भी यज्ञ किये जाते हैं, परन्तु इनका वेद विज्ञान से दूर का सम्बन्ध भी नहीं है।

वेद विज्ञान के अनुसार यज्ञ को अतीव श्रेष्ठ कर्म माना गया है और सृष्टि का ही यज्ञ स्वरूप कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण विज्ञान भाष्य के द्वितीय खण्ड में पं० मोतीलाल शास्त्री ने लिखा है कि दो वस्तुओं को रासायनिक सम्मिश्रण से समन्वित कर उन्हें अपूर्व स्वरूप प्रदान करने वाली प्रक्रिया विशेष का नाम ही यज्ञ है। प्रकृति पुरुष का समन्वित रूप प्रथम यज्ञ है। इस यज्ञ के बिना सृष्टि नहीं होती। इसी याज्ञिक समन्वय को लक्ष्य करके व्यास सूत्र में कहा गया है "तत समन्वयात्"। इसी समन्वय के अनुसार अग्नि में सोम की आहुति ही यज्ञ है और जगत को अग्नि सोमात्मक कहा गया है। पदार्थों से विस्रस्त होने वाला तत्व अग्नि है और जो तत्व वस्तु गत अग्नि में आहुत होकर उसकी स्वरूप रक्षा करता है वही सोम है।

यज्ञ का वेद विज्ञान की प्रयोगशाला कहा गया है, जो सैद्धान्तिक ज्ञान की परीक्षा करता है।

यज्ञ में अन्नाहुति भी होती है और पशु वपागत सोम की भी। अन्नाहुति प्रधान यज्ञ हविर्यज्ञ और पशु वपागत सोम की आहुति वाले यज्ञ पशुवध यज्ञ कह गये हैं। पशुवध यज्ञ में पशु उतना अपेक्षित नहीं है जितना कि वपागत सोम, अतः उसकी प्राप्ति के लिये पशुबलि का विधान है। यज्ञों के सम्पादन में होता, उदगाता, अध्वर्यु, यजमान, ब्रह्मादि कर्ताओं की जो योग्यताएं निर्धारित की गई हैं उनका एक उदाहरण स्वैदायन-उद्दालक संवाद में अन्न-यज्ञ के प्रसंग में दिया जा चुका है। इन कसौटियों पर तो शायद ही कोई पात्र आज खरा उतरे। यही कारण है कि शास्त्रों में यज्ञ को कलि वर्जित माना है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है यह विश्व यज्ञ से ही उत्पन्न हुआ है और यज्ञमय ही है। जो यज्ञकर्म अधिदैव है, वही अधिभूत में है और वही अध्यात्म (शरीर) में है। प्रकृति में जो यज्ञ हो रहा है उसके समन्वय स्थापित करना ही वैध यज्ञ का प्रयोजन है। पश्वालम्भन

इसका आवश्यक अंग माना गया है उसका आशय पशु वध एवं मांसहार न बन जाय, इसी आशंका को ध्यान में रखकर यज्ञ को कलिकाल में वर्जित ही कर दिया गया। इसलिए कहा गया है "जनमेजयात जनमेजयान्तम्"। जनमेजय के नागयज्ञ का यज्ञ का अवसान ही मान लिया गया। हिंसा के संबध में वेद में कहा है "मा हिंस्यात सर्वभूतानि"।

यज्ञ में पुरुष, अश्व, गो अवि एवं अजा नाम से पांच प्राकृतिक पशु गिनाये गये हैं। इन पशुओं का स्वरूप लोकभाषा में व्यवहृत पशुओं के स्वरूप से सर्वथाभिन्न है, परन्तु उनके साथ प्राकृतिक पशुओं की अभिन्नता भी प्रत्यक्ष है।

वेद में वैश्वानर को प्रमुख पशु की संज्ञा दी गई है। वैश्वानर अग्नि प्रधान है अतः पुरुष तत्व का प्रतीक माना गया है। तीन अग्नि वेद-पृथ्वी-अन्तरिक्ष एवं द्यौ की प्रतिष्ठ रूप ऋक् यजु एवं साम है। तीनों ही अग्नि स्वरूप है। इन तीनों के समन्वय से ही तीन प्राणाग्नि मय वैश्वानर नामक ताप धर्मा अग्नि का प्रादुर्भाव होता है। यह वैश्वानर पशु अग्नि प्रधान होने के कारण वृषा मूर्ति है। जीव की रचना के प्रसंग में वृषा को भ्रूण अर्थात् पुरुष तत्व में प्रस्तुत किया जा चुका है। जिस प्राण में वृषा तत्व की प्रधानता रहती है उसे पुरुष पशु कहा गया है। मानवीय (पुरुष भी पशु है। वह इसी प्राकृतिक पुरुष वैश्वानर की प्रतिकृति है। पशु प्रजा में इसे श्रेष्ठतम माना गया है क्योंकि यह सम्पूर्ण त्रैलोक्य में व्याप्त है। त्रैलोक्य वैश्वानरमय है। अग्नि की प्रधानता से यह अर्थमय है, वायु के संयोग से यह क्रियावान् है और इन्द्र [आदित्य] के संयोग से ज्ञानवान् है।

प्रकृति में जो विराट पुरुष का स्वरूप है उसका प्रत्यक्ष स्वरूप मनुष्य पुरुष है और पशु-श्रेष्ठ है। अर्थ, क्रिया एवं ज्ञान की समष्टि इसकी श्रेष्ठता का आधार है। इतर पशुओं में इन तीनों का वैसा विकास नहीं हुआ। यजुर्वेद का पुरुष सूक्त विराट पुरुष का ही निरूपण करता है। विराट पुरुष ही ईश्वर प्रजापति है और हम उसी के अंश है।

दूसरा पशु अश्व है। अश्व का स्वरूप आपोमय सौर तेज से निष्पन्न होता है। सूर्य का सावित्र तेज भूपिण्ड से टकराकर अन्तरिक्ष में अर्णव समुद्र के आप तत्व से संश्लिष्ट होता है। वह आपयुक्त होकर भूमिष्ठ

होता हुआ पुन अपने प्रभवस्थान सूर्यलोक मे पहुचता है। भूपिण्ड से सौर मण्डल तक व्याप्त यह आपोमय सौरतेज अश्वपशु माना गया है। अश्व को वारुण पशु भी कह लेते है परन्तु अप् तत्व मे सौर तेज कर मश्लेषण होने पर वह शुद्ध वारुण पशु नही रह जाता है वल्कि साथ पशु बन जाता है। शुद्ध वारुण पशु महिष [भैंस] है। अश्व पशु की व्याप्ति प्रात काल से साय तक है। उषा इसका उपक्रम विन्दु है। सौर त्रैलोक्य मे इन्द्र प्राण प्रधान यह अश्व पशु खडा है।

सूर्य रश्मियो मे जो पानी है, वह मरीचि नाम से जाना जाता है। इसी को रुद्र के अश्रु भी बताया जाता है रुद्र अतरिक्ष का महाचन्द्र तत्व है। यही महादेव है। रुद्र के अश्रु ही पृथ्वी के आग्नेय प्राण से सक्रान्त होकर अश्व का रूप धारण करते है। रुद्र मे उत्पन्न होने के कारण अश्व पशु भी अति प्रखर होता है। रौद्र तत्व ही विद्युत है जो आन्तरिक्ष आप मे निहित है।

अश्व पशु का ज्ञान ही वेद का ज्ञान बताया गया है। इस अश्व पशु मे अग्नि, वायु, आदित्य तीनो प्राणो का और तीनो अग्नियो का समन्वय है। सूर्य का त्रयी वेद कहा जाता है यही वाजिरूप मे परिणित होकर वेद का स्वरूप प्रकट करता है। कहते है भगवान् याज्ञवल्क्य ने इसी वाजिरूप से सूर्य वेद तत्व प्राप्त किया था।

तीसरा गो पशु है। इस गो तत्व का उद्भव आपोमय परमेष्ठी से होता है। सूर्य मे इसका विकास होता है। सम्पूर्ण त्रिलोकी मे यह व्याप्त है। सम्पूर्ण भौतिक प्रपच [विश्व] एव यज्ञ इसी गोतत्व पर प्रतिष्ठित है। परमेष्ठी साम का लोक है, अत गो तत्व सामयुक्त है। परमेष्ठी का प्रतीक देवता विष्णु है। विष्णु मन, प्राण एव वाक्मय है और इसी प्रजापति के प्राण भाग से गो तत्व उत्पन्न होता है। साम्य प्राण गो का आत्मा है, अग्नि उसका शरीर है। इसी कारण गो को अमृत की नाभि कहा गया है।

पार्थिव प्रजा मे जो गो पशु है उसमे प्राकृतिक गो पशु के सभी तत्व समग्र रूप मे समाविष्ट रहते है। अत गो को रुद्रो की माता, वसुओ

की कन्या एवं आदित्यों की वहिन कहा गया है। आठ वसु, ग्यारह रुद्र और वारह आदित्य मिलाकर इक्तीस देवता ह। दो अश्विनी कुमार भी गो पशु मे निहित होत हैं। इसलिये कहा गया है कि गो शरीर में तैंतीस कोटि दवता निवास करते है।

ऊपर कहा गया है कि प्रजापति [विष्णु] के प्राण भाग से ही गो पशु तत्व उत्पन्न हुआ है। विष्णु परमेष्ठी का प्रतीक है और परमेष्ठी ही आगिरस आदित्य का उद्गम है। इसलिये गो पशु को आदि या की वहिन कहा गया है।

गो प्राण से ही रुद्र, रुद्र मे मरुत् और मरुत् मे मारुत [वायु] उत्पन्न हुआ है, इसलिये गो को रुद्रो की माता कहा गया है। अग्नि का स्वरूप पृथ्वी है जो अष्टाक्षर गायत्री तक अग्निरूप मे व्याप्त है। यही अष्टवसुओ का स्वरूप ह। गो पशु का शरीर अग्नि मय वताया गया है। सोम को उसका आत्मा वताया कहा गया है। इसमे उसको अमृत की नाभि या आग्नेय कहा गया है। अग्नि प्रभतकाम होने से ही गो को वसुओ की कन्या कहा गया है।

माता रुद्राणा, दुहिता वसूना
"स्वसादित्यानाममृतस्यनाभि ॥"

चौथा पशु अवि [भेड[है। इसका मुख्य सम्बन्ध अन्तरिक्ष के आपोभाग से है। पचाग्नि विद्या के अनुसार वृष्टि का मूल तत्व दिक सोम है। सोम के दो स्वरूप हैं ऋत और सत्य। सत्य सोम से पिण्ड रूप चन्द्रमा का स्वरूप बनता है। ऋत सोम चूकि विखरा हुआ है सूक्ष्म है, वह पर्जयाग्नि मे आहुत होकर वृष्टि करता है। दिशाओ मे व्याप्त रहने के कारण इसे दिग्सोम कहते हैं। यह निरायतन होता है अत ऋतु स्वरूप है। यजुर्वेद ने इसे दिश श्रोत्रे कहा है, अर्थात् यह ईश प्रजापति का श्रोत्रेन्द्रिय है। इसी दिग्सोम से अवि पशु का विकास होता है। वृष्टि के वाद उत्पन्न होने वाला हरित भाव इसी अविप्राणमय सोम के कारण होता है। अवि पशु आन्तरिक्ष्य होने पर भी का स आदित्य से उतना नही जितना कि पृथ्वी से है। इसीलिए इसको ५।

पशु भी माना गया है। अवि पशु एव अजा पशु मे वडी निकटता है। यह विज्ञान के अनुसार दानो उपाशु एव अन्तर्याम ग्रहो से उत्पन्न हाते हैं। दोनो ग्रह सहचारी है अत दोनो पशु भी लगभग सहचारी है। अवि पशु अन्तर्याम ग्रह से उत्पन्न होता है, और अज उपाशु ग्रह से उत्पन्न होता है। उपाशु ग्रह की आहुति पहले होती है और अन्तर्याम ग्रह की पीछे होती। यही कारण है कि अवि अज (भेड बकरी) पशु साथ साथ रहने पर भी उनके झुण्ड मे अज [बकरी] पशु आगे आगे चलता है और भेड पीछे चलती है। आहुति के बाद उपाशु ग्रह का उन्माजन ऊर्ध्व हाता है अत अज पशु भी ऊपर को ओर सिर करके चलता है। अन्तयाम ग्रह आहुति के बाद भी अधोमुखी रहता है अत अवि पशु (भेड) चलते हुए नीचे की ओर सिर किये हुए रहता है।

अज पशु पाचवा पशु है। यह प्रधानत पार्थिव पशु है। इसे अग्नि प्रधान पशु कहा गया है। अग्नि प्रजापति भूमि के केन्द्र मे प्रतिष्ठित है। केन्द्रीभूत अग्नि प्रजापति के कारण ही भूपिण्ड प्रतिष्ठित है। इसी प्रजापति को पृथ्वी का अक्ष या धुरा कहना होगा। इस अग्नि का विस्रसन ही अज पशु का उपादान बनता है। विस्रसन ही अग्नि का प्रवग्य या उच्छिष्ठ भाग है। औषधि-वनस्पति समान उपादान के कारण एक ही श्रेणी मे आते हैं। चूकि यह अन्न प्रजापति का है, सृष्टि का पोषक है। वह कभी समाप्त नही होता। अज एव औषधि-वनस्पति का भी यही स्वरूप है। वह कभी समाप्त नही हाते।

निरन्तर व्ययमान होते होते भी जो क्षीण नही होता। इसीलिए पशु का अज कहा गया है। यह सवत्सर प्रजापति का प्रवग्य भाग है अत कभी समाप्त नहीं हाता। सवत्सर प्रजापति तीन वार प्रसव करता है और अज पशु भी तीन बार प्रसव करता है। अज पशु सवत्सर प्रजापति के वाग भाग मे उत्पन्न होता है। वाक् अग्नि ही है।

ऊपर जिन पाच पशुओ का सक्षिप्त विवरण दिया गया है, उन्ही पाच मे अन्य सब पशुओ का अन्तर्भाव माना गया है। पशु प्रजा इनसे बाहर नही है। सृष्टि के पालन के लिए प्रजापति अथवा सृष्टिकर्ता का इन पशुओ का निरन्तर व्यय करना है। इस कमी को पूरा करने के लिये आगत मास की आहुति का विधान किया गया है।

अन्त में संक्षेप में पशु शब्द का अर्थ और स्वरूप भी जान लिया। यदपश्यत् तस्मात् पशु कहा गया है। भोगेच्छा को दृष्टि से जाना जाता है। जिस वस्तु पर हमारी दृष्टि रहती है उसका हम भोग करना चाहते है। इसी अर्थ से पशु का स्वरूप निर्धारित किया गया है। जो भोग्य वस्तु है, जिस पर हमारी दृष्टि है, जो स्वयं कर्ता या स्वतन्त्र न हो वही पशु है। पशु का भोक्ता पशुपति है और दोनों को बांधे रखने वाला पाश है। आत्मा पशुपति है, प्राण पाश है और वाग् पशु है। भोग्य होने के कारण पशु को अन्न भी कहा गया है।

यज्ञ का विस्तृत विधि-विधान

वेद मे यज्ञ का स्वरूप क्या है, इस पर सक्षेप म लिखा जा चुका है। यज्ञ की विधि एव आयोजन पद्धति ज्ञान लेने के बाद यह भली भाति समझ मे आ जाता है कि यज्ञ वास्तव मे सागोपाग सम्पूर्ण विज्ञान है और विज्ञान का प्रायोगिक रूप है। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ केवल अग्नि होत्र नही है बल्कि वाछित फल देने वाली श्रेष्ठ कोटि की वैज्ञानिक पद्धति है। यज्ञ के लिए यहा तक कहा गया है कि इससे नये सूय और नये चन्द्रमा को सृष्टि की जा सकती है क्योकि सृष्टि का कर्ता ही यज्ञ है। इसी दृष्टि से पूव मे अन्न प्राशन, दाम्पत्य कम इत्यादि को यज्ञ की सज्ञा दी गई है।

प्रयोजन

यज्ञ का मुख्य प्रयोजन आधिदैविक आधिभौतिक एव आध्यात्मिक अग्नियो का सम वय है। अग्नि ही यज्ञ का माध्यम है। काष्ठ मे सुषुप्त अग्नि, शरीर मे व्याप्त अग्नि एव देवलोक (सूय) मे निहित प्राणाग्नि को यज्ञवेदी म समन्वित कर देना ही यज्ञ है। इस समन्वय के अभाव में यदि भूताग्नि मे सकडो मन अन्न और घृत भी होम दिया जाय तो वह यज्ञ नही है अग्निहोत्र ही है। कितनी ही ऋचायें पढें और कितनो ही बार होम स्वाहा का उच्चारण करें व्यथ है। यज्ञ की यही वैज्ञानिक महत्ता है कि वह अधिदव अधिभूत और अध्यात्म का एक सूत्र मे बाध देता है। जिस प्रकार आज हम मशा के माध्यम से दूरस्थ शब्द और चित्रो का साक्षात् कर लेते है उसी तरह यज्ञकर्म म दैवत्व के साथ सम्पर्क किया जा सकता है। यज्ञ को यह महत्ता परम वैज्ञानिक शास्त्र विधि के बिना सभव नही है। चू कि शास्त्र मर्यादा कलियुग मे शिथिल मानी गई है, अतएव यज्ञ का कलि वज्य कहा गया है।

यन की विधि पेचीदा उतनी नही है जितनी कि विस्तारपूर्ण है। इसे वज्ञानिक प्रयागशाला या आपरेशन थियेटर की व्यवस्था के समान ही वडे मनोयोग एव सावधानी से सम्पन्न करना पडता है। यज्ञवेदी के स्थान का चयन करने से लेकर पूर्णाहुति तक पग पग पर सावधानी ही सावधानी है। उदाहरण के लिए यदि वेदी का खनन करने के बाद दूर्वास्तरण मे पहले उसे स्पश कर दिया तो यज्ञ ही नष्ट हो जाता है। ऐसा क्यो होता है उसका वैज्ञानिक कारण बताया गया है। मत्रोच्चारण मे स्वर या मात्रा का तनिक भी अन्तर पड जाय तो अनिष्ट हो जाय। यन करने वालो की पात्रता भी देखी जाती है, जो अपने आप मे असाधारण है।

यज्ञ की वेदी बनाने के लिए भूमि का चयन भी एक विचारपूण वज्ञानिक कम है। वेदी का आकार और उसकी गहराई कितनी हो, इसके लिए माप दिए गये हैं। इन मापो का ही इतना विस्तार है कि गणित का अच्छा खासा ज्ञान करवा दे। ये माप यज्ञ के स्वरूप के अनुसार प्रयाग मे आते है। यज्ञ वेदी पर दूर्वास्तरण, कुशास्तरण, परिधि का निर्माण, सामिधेय काष्ठ, हवि, पुरोडाश, ऋचाओ का चयन हवन के उपकरण आदि आदि का इतना विस्तार ह कि पोथे के पोथे भरे पडे हैं।

इन सभी बातो के मूल मे वैज्ञानिक तत्व हैं। दूर्वास्तरण पूव वेदी का स्पश करने मे यज्ञ क्यो नष्ट हो जाता है ? इसके लिए कहा गया है कि खुरपी से मिट्टी खोदने से उसमे हिसाभाव उत्पन्न हो जाता है और मिट्टी उग्र हो जाती है। दूर्वास्तरण से वह शान्त होती है। पलाश का काष्ठ इसलिए श्रेष्ठ माना गया है क्योकि वह ब्रह्मवीय से युक्त होता है। अग्नि भी ब्रह्मवीय से युक्त होता है। इसी तरह सभी प्रकार के काष्ठो की प्रकृति समझकर ही यज्ञ मे उनका उपयोग किया जाता है। वेदी की दिशा भी विचार पूवक निर्धारित की जाती है। इसकी शास्त्रीय वा वज्ञानिक विधि बताई गई ह।

ऊपर यज्ञ के विभिन्न पक्षो के सक्षिप्त उदाहरण दिए गए है, परन्तु यन का मुख्य तत्व तो अग्नियो का सामञ्जस्य ही है। फिर भी यह जान लेना आवश्यक है कि यज्ञ का कोई अश अवज्ञानिक अशास्त्रीय अथवा अविचारपूण नही है। विधि विधान मे तनिक अन्तर पड जाने से यज्ञ का स्वरूप नष्ट हो जाता है। आपरेशन थियेटर मे काम करने वाले डाक्टर

कम्पाउण्डर, नर्स, वार्ड बॉय यह बात भली भांति समझते हैं कि चीर फाड ही आपरेशन के लिए पर्याप्त नही है बल्कि रोगी को वस्त्र पहिनाना एक्सरे करवाना, रक्तचाप देखना, ताप और नब्ज देखना हृद्कम्प जानना अनस्थीसिया देना, चाकू चलाना, टांके लगाना, पट्टी बाधना आदि आदि अनेक कर्म है जो समान रूप से ही महत्वपूर्ण हैं। तनिक भी असावधानी से फल सिद्धि से विघ्न पड सकता हैं और कभी कभी अनिष्ट भी हो सकता है।

वैज्ञानिक अनुष्ठान

यज्ञ की व्यवस्था की एक झलक के बाद इस मुख्य पक्षपर संक्षेप में विचार कर लिया जाय जिसके कारण यज्ञ को अतिश्रेष्ठ वैज्ञानिक अनुष्ठान बताया गया है। यजमान यह निश्चय करता है कि उसे यज्ञ से क्या फल प्राप्त करना है। मान लाजिए यजमान को मरणापरान्त स्वर्ग जाना है। हमारी कल्पना मे स्वर्ग का जो भी स्वरूप अंकित हो, प्रकृति मे वह क्षेत्र अन्तरिक्ष एवं सूर्य के मध्य है। भूमि से सूर्य तक का माप 21 स्तोम तक बताया गया है। तीन स्तोम तक भूपिण्ड है, 15 स्तोम तक अन्तरिक्ष है और 21 स्तोम पर सूर्य। सूर्य एवं अन्तरिक्ष के बीच सत्रहवें स्तोम पर वह विस्तार है जो स्वर्ग रूप मे बताया गया है। यह देव प्राणो का निवास है। सूर्य लोक देव प्राणो का लोक बताया गया है। यदि यजमान स्वर्ग जाना चाहता है तो यज्ञ के द्वारा दैवात्मा उत्पन्न किया जाता है। दैवात्मा आधिदैविक आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक अग्नियो के समन्वय से उत्पन्न अतिशयभाव है जो यज्ञ के द्वारा उत्पन्न होता है।

उपर्युक्त तीन अग्नियो मे से एक अग्नि पार्थिव या भौतिक है। पार्थिव अग्नि सौर अग्नि का ही प्रवर्ग्याश है क्योंकि पृथ्वी सूर्य का ही उपग्रह है। सूर्य से निसृत होकर साराग्नि जब पृथ्वी पर पहुंचता है तो वह पार्थिव ही बन जाता है। वह सभी पार्थिव पदार्थो मे कृष्णमृग रूप मे सुषुप्तावस्था मे रहता है। काष्ठ मे भी पार्थिवाग्नि प्रसुप्त है। यज्ञ के समय अध्वर्यु उसे प्रजज्वलित कर देता है। प्रजज्वलित होने के उपरान्त वह ऊर्ध्वगामी बनता है और पुन विरल रूप से अपने [illegible] सूर्य मे जा पहुंचता है। सौर अग्नि का ही [illegible] का गायत्राग्नि बताया गया है।

अग्नि की इस स्वाभाविक गति का यज्ञ कर्म से कोई सम्बन्ध नही है। काष्ठ मे प्रजज्वलित यह अग्नि तो वही है जो हमारे दैनिक जीवन मे पाकादि क्रियाओ मे प्रयुक्त होता है। यज्ञाग्नि तो वह है जो वेदी मे ही पार्थिवाग्नि के साविश्राग्नि और आध्यात्मिक अग्नि से समन्वित होगा। इस समन्वय के बाद जो यज्ञाग्नि द्युलोक मे प्रवेश करेगा वही देवात्मा होगा, अन्यथा नही। उसके साथ ही आहुति द्रव्य भी द्युलोक मे पहुचेगा। उसका यजमान की शरीराग्नि से निरन्तर सम्बन्ध बना रहेगा और अग्नियो का ही आकर्षण स्वर्ग फल प्राप्ति का का कारण होगा।

भूताग्नि और शरीराग्नि का सौर प्राणाग्नि से सम्बन्ध कराना अपने आप मे असभव कम है। सौर प्राणाग्नि अति सूक्ष्म है। वह पार्थिव पदार्थो से सवथा अग्राह्य है। उसकी परिभाषा है रूप, रस, गध, स्पश, शब्द शून्यत्व सहित "अधामच्छदत्वमेव प्राणात्वम"। वह ऐन्द्रिय तन्मात्राओ से भी परे है वह प्राणरूप मे है पदार्थ रूप मे नही। इनके सौर प्राणाग्नि के ग्रहण के लिए वैज्ञानिक महर्षियो ने स्वर समन्वय का उपाय किया है।

सूर्य पृथ्वी सम्बन्ध

पृथ्वी सूय का उपग्रह है दोनो मे परस्पर आधार-आधेय का सबध है। पृथ्वी सूय के आकर्षण बल से ही प्रतिष्ठित है। गौरूप सूय ने रश्मिरूप शृगो से भूभार वहन कर रखा है। इस सौर प्राण का ही नाम स्वर है और पार्थिव भूत ही व्यजन है। त्रिलोकी मे या गायत्री मे सूय को स्वर्लोक (भू भुव स्व) कहा गया है यह सौर प्राणो के कारण ही कहा गया है। श्रुति मे इसे "स्वरहर्देवा सूय" कहा गया है। पार्थिव व्यञ्जन वाक् अनुष्टुप् कहलाती है। जिस प्रकार पृथ्वी सूर्य पर अवलम्बित है, व्यजन भी स्वर पर अवलम्बित है। महर्षियो ने अपनी दृष्टि से यह परीक्षा की कि व्यजन मे अनुस्यूत सौर स्वर प्राण दिव्य तत्व है अर्थात् इन्द्रमय है। (सूय ही इन्द्र है) यदि इस दिव्य तत्व का व्यजन के साथ नियमपूर्वक सम्बन्ध जोड दिया जाय तो उस वागनुगत नियमित स्वर से दिव्यलोकस्थ प्राण देवताओ को आकर्षित किया जा सकता है। इसी स्वर-विज्ञान को आधार बनाकर ऋषियो ने दिव्यप्राणो की स्वरूप परीक्षा की। उन्होने देखा कि अग्नि, इन्द्र, वरुण इत्यादि देव प्राण गायत्री, त्रिष्टुप् आदि विशेष छन्दो से छदित (सीमित) है। ये छन्द वाक् परि-

मात्रात्मक सीमाएं हैं। इन छन्दों में उदात्त, अनुदात्त, स्वरितादि स्वर लहरियां सीमित हैं। इसी ज्ञान के आधार पर छन्दों की स्वर सम्पदा का संग्रह किया गया और यह सिद्ध किया कि यदि अमुक छन्द वाले अमुक स्वर युक्त, अमुक मन्त्र का अमुक क्रम में अमुक नियम से प्रयोग किया जाय तो इन छन्द स्वरों में सम्बद्ध प्राण देवताओं का सत्व व पार्थिव यज्ञाग्नि में भी स्थापित हो जायगा किन्तु ऋषियों ने आदेश दिया है कि मन्त्र वाक के उच्चारण में छन्द, स्वर, वर्ण मात्रादि में किंचित् भी दोष रह गया तो यज्ञ का फल नष्ट हो जाएगा और अनिष्ट हो सकता है।

यज्ञ में जिन ऋचाओं का उच्चारण किया जाता है उन्हें सामधेनी ऋचायें कहा जाता है। इन ऋचाओं से यज्ञाग्नि समिद्ध होता है। अग्नि को प्रज्ज्वलित करने और समिधा काष्ठ डालने वाला अध्वर्यु कहलाता है और उच्चारण करने वाला ऋत्विक् कहा जाता है। इस सम्पूर्ण यज्ञ कर्म का सामिधेन्यनुवचन कर्म कहा गया है। यहां यह भी स्पष्ट कर लिया जाय कि अध्वर्यु एवं होता पृथक्-पृथक् क्यों होते हैं। इसका आधार भी वैज्ञानिक है। प्रकृति में यजुर्वेदी तत्व वायु को ही पार्थिव अग्नि उद्दीपक बताया गया है। इसी को यजुर्वेदी अध्वर्यु माना गया है अतः वैध यज्ञ में भी अध्वर्यु का स्थान पृथक् रखा जाता है। वही यज्ञाग्नि को इद्ध करता है और मन्त्रोच्चार के उपरान्त काष्ठ-खण्ड की आहुति से वह समिद्ध रहता है। प्रकृति में पार्थिव अग्नि को ही सामिन्धन कर्म का संचालक माना गया है अतः उसी का स्थान होता या ऋत्विक का होता है।

यज्ञ में प्रयुक्त काष्ठ खण्डों की संख्या भी निर्धारित होती है उक्त यज्ञ में ग्यारह सामिधेनी ऋचाओं का प्रयोग होता है अतः ग्यारह ही काष्ठ खण्ड यज्ञाग्नि को समर्पित किये जाते हैं। ऋचाओं की संख्या भी वैज्ञानिक आधार पर निर्धारित होती है।

यज्ञ विज्ञान के विस्तार की कोई सीमा नहीं है, परन्तु कहने का तात्पर्य यही है कि वैध यज्ञ अर्थात् मानव कृत यज्ञ प्राकृतिक यज्ञ की ही प्रतिकृति है। जो कुछ प्रकृति में हो रहा है, वही यज्ञ में घटित होता है। प्रकृति में व्याघात करना नहीं अपितु प्रकृति से समन्वय करना ही यज्ञ का प्रयोजन है और प्रकृति को अनुकूल बनाना तथा उसे जानना ही कर्म है।

प्रस्तर ग्रहण क्रिया

अन्त मे एक अति महत्त्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करके इस प्रकरण को उपरत किया जाता है। यज्ञ मे प्राक्षण कम के उपरान्त एक क्रिया को प्रस्तर ग्रहण क्रिया कहा जाता है। यह क्रिया कुश मुष्टि का ग्रहण है। कुशमुष्टि को यज्ञ वेदी के एक ओर रखा जाता है जिसे शिखा स्थान कहा जाता है। अधिदैव मे यह स्थान सूर्य का है। सूर्य हमारे संवत्सर मण्डल के ऊर्ध्व स्थान मे स्थित है। यज्ञ मे इस स्थान को यूप कहा जाता है। संवत्सर यज्ञ मे इस यूप का बडा महत्व है। आध्यात्मिक (शारीरिक) संस्था म इसका स्थान हमारी शिखा है। संवत्सर मण्डल, पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं सूर्य से बना है। इसके 21 स्तोम वाले तीन भाग है। त्रिस्ताम इसके चरण है, पंचदश स्तोम इसका धड है और एकविंशति स्ताम पर इसका शोर्ष है। शीर्ष ही सूर्य है और इसका भी ऊर्ध्व भाग उसकी शिखा है। संवत्सर मण्डल की प्रतिकृति ही हमारा शरीर है। संवत्सर मण्डल का दक्षिण भाग हमारे शरीर का दक्षिण पार्श्व है, वाम भाग हमारा वाम पार्श्व है। ये संवत्सर के उत्तरायण-दक्षिणायन भाग हैं। मध्यम भाग विषुवत् है जिसका प्रतिरूप हमारा मेरुदण्ड (रीढ की हड्डी) है। त्रिवृतपाद पृथ्वी हमारे चरण है, पंचदश स्तोम अन्तरिक्ष हमारा धड है और एकविंशति स्तोम आदित्य हमारा शीर्ष है। हमारे शरीर और संवत्सर की रचना का स्वरूप एक जैसा ही है। हमारे शीर्ष पर ऊर्ध्वभाग मे जो शिखा स्थान है, वही ब्रह्म रध्र है। यही सूर्य की आध्यात्मिक प्रतिकृति है। इसी रध्र से सूर्य मण्डल के केन्द्र तक एक महापथ लगा हुआ है जो आयु प्राण के गमनागमन का माध्यम है। आयु प्राण को बृहतीप्राण भी कहा गया है। इसकी गति इतनी तीव्र है कि एक निमेष (पलक झपकने के समय) मे यह ब्रह्म रध्र से सूर्य केन्द्र तक तीन बार आता है और जाता है। इतनी तीव्र गति मानव के लिए अभी अज्ञात है। हमारे यहा से सूर्य का केन्द्र 21 स्तोम अर्थात नौ करोड मील माना जाता है। इस दूरी को एक निमेष मे तीन बार नाप लेना अपने आप मे एक बडी सनसनी खेज घटना है। आयु प्राण की यही गति है, इसका गमनागमन निर्बाध रहे, यही मनुष्य की उपलब्धि है। जिस क्षण सूर्य केन्द्र और ब्रह्मरध्र के बीच याम्य प्राण आ जाते हैं, आयु प्राण का आगमन रुद्ध हो जाता है और निधन हो जाता है। आयु प्राण के निर्बाध आवागमन को ही अहरह यज्ञ कहा गया है जो निरन्तर चलता रहता

है। सूय के तीन मनोता बताये गये हैं [1] ज्योति [2] गो एव [3] आयु, मनोता से ही पदाथ का स्वरूप बनता है। मनोता के लुप्त हो जाने पर पदाथ ही लुप्त हो जाता है। सूय के आयु मनोता से ही सृष्टि की आयु है। आयु प्राण का मूल वैश्वामित्र प्राण है। इसे वैज्ञानिक भाषा मे निहुतिद्वा, नान्दद्वा इत्यादि नामो से भी जाना जाता है। आयु प्राण की रक्षा के लिए ही आर्यों ने शिखा रखने का विधान किया है। शरीर और प्रकृति के बीच प्राणो के सचार नियमन मे शिखा की महती भूमिका मानी गई है।

प० मोतीलाल शास्त्री के शतपथ ब्राह्मण विज्ञान भाष्य पर आधारित।

-●-

ईश्वर का स्वरूप

वेद मे जिसे अखण्ड, अज्ञेय, अनिवचनीय इत्यादि विशेषणो से भूषित किया गया है, उसे परात्पर सत्ता का शास्त्रानधिकृत माना गया है। उस सत्ता का शब्दो से ग्रहण नही किया जा सकता। उसे ज्ञात्वा न मानकर भात्वा माना गया है इसलिए शास्त्र इस विषय मे मौन है। "नेति नेति" का उद्घोष इसी सत्ता के लिए हुआ है, परन्तु भगवान अथवा ईश्वर वह सत्ता नही है जिसका शब्दो मे निरूपण नही किया जा सकता। परिग्रह विज्ञान के अनुसार परात्पर-परमेश्वर के साथ महामाया नामक महाबल का सयोग हाने के वाद वह महेश्वर उसके उपरात विश्वेश्वर, उसके उपरान्त उपेश्वर एव अन्त मे ईश्वर रूप मे वर्णित है। यही भगवान है।

षट् भगात्मक सत्ता को भगवान कहा गया है। जिस किसी पात्र मे ज्ञान, वैराग्य, धर्म, ऐश्वय, श्री और यशादि छ भाग हो वह भगवान कहा गया है। ऋषियो एव अवतारी पुरुषो के लिए भगवान शब्द का व्यवहार किया जाता है। पुराणो मे जो चतुभु ज विष्णु, चतुरानन, ब्रह्मा, त्रिनेत्र शिव, गजकाय गणपति इत्यादि स्वरूप है वे प्रतीकात्मक है, परन्तु वेद शास्त्रो और उन पर आधारित वैज्ञानिक ग्रथो मे भगवान का जो स्वरूप वताया गया है वह सवथा बुद्धिसगत है, सुस्पष्ट है।

षट्कल भगवान की एक कला ज्ञान है। ज्ञान के कितने हो स्वरूप हैं परन्तु जो ज्ञान भगवान की एक कला है वह दृष्टत्व लक्षण ज्ञान है अर्थात वह ज्ञान जो सवका द्रष्टा है। या तो हम सभी को कुछ न कुछ ज्ञान होता है, परन्तु वह ज्ञान वडा सीमित होता है। दृष्टत्व मय ज्ञान वह ज्ञान है जो प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो को देखता है। वह घटित ज्ञान है, अनुभूत ज्ञान है, परीक्षत ज्ञान है। एक ज्ञान स्मृति लक्षण होता है। यह

सुना सुनाया अथवा समझाया हुआ ज्ञान होता है। इस ज्ञान से युक्त पात्र को भगवान नहीं कहा जा सकता परन्तु दृष्टत्व लक्षण ज्ञान से युक्त मनुष्य को निश्चय ही भगवान कहा जा सकता है। दृष्टत्व लक्षण अर्थ का द्रष्टा होता है अतः उसके लिए हम "तत्र भवान्" कहा करते हैं।

तत्र भवान का अर्थ है उसमें आप। जब विषय में आप स्वयं प्रवेश कर जाते हैं तभी उसका साक्षात कर पाते हैं, अन्यथा नहीं। सस्कृत में जो "आप्त" शब्द है उसका ऐसा ही अर्थ है। आप्त को हम पहुचवान कहते हैं। शब्द के माध्यम से आत्मा को जानना और आत्म साक्षात करना दो भिन्न भिन्न ज्ञान है। आत्म साक्षात ही दृष्टत्व लक्षण ज्ञान है। सीमित अर्थों में हम सभी आप्त हैं क्योंकि न्यूनाधिक ज्ञान हम सभी में होता है परन्तु आत्मसाक्षात् बुद्ध आर हो पाते हैं। साधारणतः हमें जो ज्ञान होता है वह इन्द्रिय सापेक्ष पदार्थ लक्षण ज्ञान होता है। इससे हम चक्षु, श्रोत्रादि इन्द्रियों से भौतिक पदार्थों का ज्ञान कर लेते हैं। किन्तु भूत भविष्यत् जैसे अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान करने के लिए दृष्टत्व लक्षण ज्ञान ही समर्थ है। वही भगवान् की कला बनने योग्य है।

पुत्र, कलत्र, अनुचर, भवन, पशु, वित्त, वस्त्रालंकार, राज्य सत्तादि लौकिक समुन्नति मूलक भौतिक परिकरों के प्रति सर्वथा उपेक्षाभाव उत्पन्न कर लेना ही वैराग्य अथवा विराग का स्वरूप है। यह भाव उत्पन्न होने पर अथवा इस भाव से सम्पन्न होने पर विश्वास कीजिये कोई भी मनुष्य सम्पूर्ण ऐश्वर्य से सम्पन्न हो जाता है। वैराग्य से बड़ा कोई ऐश्वर्य नहीं, जिसे संसार के ऐश्वर्य कभी आकर्षित नहीं करते वह सबसे बड़ा ऐश्वर्यशाली है और यही भगवान का लक्षण है।

तीसरी कला ऐश्वर्य है जो हमारे सामान्य अर्थों से भिन्न अर्थ रखती है। स्वतः सिद्ध अथवा योग सिद्ध अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व एवं विशित्व संज्ञक अष्ठ सिद्धियों की समष्टि ही ऐश्वर्य है। बल तत्व को आत्मा और वित्त नाम से दो भागों में बांटा गया है।

आत्मबल स्वतन्त्र बल है। वित्त बल आश्रित बल है। शरीर आत्मा का वित्त है क्योंकि वह आत्मा पर ही आश्रित है। शरीर भी वित्त है। आत्म बल ऐश्वर्य है और वित्त रूप शरीर बल श्री है। ऊपर

वर्णित अष्ट सिद्धियों का सम्बन्ध ईश्वर सत्ता मे ही है। वही सूक्ष्म मे सूक्ष्म कीटाणु बना हुआ है। यही उसका अणिमा भाव है। वही महाविश्व रूप मे प्रकट हुआ है। यही उसका महिमा भाव है। यह एक स्थान पर केन्द्रित होते भी सम्पूर्ण को अपनी सीमा मे समेटे हुए है, यही उसका प्राप्ति भाव है। वह भीतर से बाहर सर्वत्र यथेच्छ विहार करता है, यही उसका प्राकाम्यभाव है। सबका शास्ता एव अन्तर्यामी वही है, यही उसका ईशित्व भाव है। उसने सभी को एक सूत्र मे बाध रखा है और नियति दण्ड से वशवर्ती बना रखा है यही उसका विशित्वभाव है। वह लघुतम पदार्थों मे निहित है, यही उसका लघिमाभाव है।

जीव का अर्थात् जीवात्म का यह सामर्थ्य नही है कि वह लघु से लघु और महान् से से महान् बन जाए। उसका बल त्रिगुण महान् के रूप मे सीमित होता है, किन्तु जिस किसी मनुष्य मे उपयुक्त शक्तिया जन्मकाल से ही प्रगट होने लगें तो वह ईश्वर समान ही होता है। जो कोई योग साधना से यह सिद्धिया प्राप्त कर लेता है, वह योगी है। जिन अष्ट सिद्धियों का उल्लेख ऊपर किया गया है उन आठो का सम्बन्ध या अनुग्रह आठो देव योनियों पर होता है। ये आठ देवयोनिया है यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, पितर, ऐन्द्र, प्राजापत्य और ब्रह्मा। इनका निवास चन्द्र लोक होता है। विशेष प्रकार की क्रियाओ से मनुष्य भी ये सिद्धिया प्राप्त कर सकता है परन्तु शास्त्र इसका अनुमोदन नही करते।

अणिमा और महिमा का उदाहरण हनुमान् का सूक्ष्म बनकर सुरसा के मुख मे जाना और विशाल बन कर सुरसा के मुह मे न आना रामायण मे मिलता है। गरिमा भी हनुमान् मे ही देखी गई इस सिद्धि से शरीर अधिक से अधिक भारी बन जाता है। निषध पर्वत पर हनुमान् ने अपनी पूछ को इतना भारी बना लिया कि भीम से हिलाये न हिली। रावण को राज्यसभा मे अगद ने भी अपना पर इस तरह जमा लिया कि किसी से हिलाया न गया।

लघिमा वह सिद्धि है जिसके द्वारा मानव शरीर गुरुत्वाकर्षण से मुक्त हो सकता है। योग शास्त्र मे धारण, ध्यान और समाधि का विवेचन है। इन तीनो के अभ्यास से सयम उत्पन्न होता है शरीर का

आकाश के साथ सयम हो जाता है और वह रुई के समान हल्का हो जाता है। प्राप्ति सिद्धि के द्वारा दूरस्थ वस्तु को अपने पास मगवाया जा सकता है। प्राकाम्य सिद्धि के द्वारा मनुष्य पृथ्वी, जल इत्यादि पदार्थो म प्रविष्ट हो सकता है और रह सकता है। वह अदृश्य भी हो सकता है।
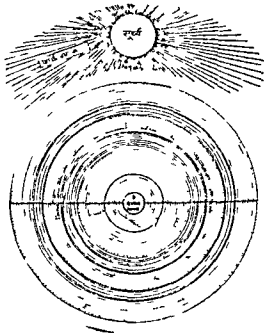
ईश्वर नाम से जिस सत्ता को हम जानते हैं वह वेद म सुपरिभावित है। ईश्वर भले ही सीमित सत्ता है, परन्तु असीम के साथ उसका तारतम्य है। वद म सभी सत्ताओ की एक वैज्ञानिक शृखला बताई गई है जो परात्पर परमश्वर मायी महेश्वर, विश्वश्वर, उपश्वर और ईश्वर नाम से जानी जाती है। हमारा विश्व महावन के एक महा वृक्ष की वल्शा मात्र है। भूपिण्ड भी इस विश्व का एक ह्रद्राण मात्र है। सूय इस पच पर्वा विश्व का मध्यस्थ है। हमारी मर्त्यसृष्टि सूय से नीचे है और अमर्त्य विश्व इसके ऊपर। सूय स्वय अमृतमर्त्यमय है। प्रस्तुत रेखा चित्र प मधुसूदनजी ओझा का बनाया हुआ है जिसम ईश्वर का निरूपण किया गया है।

जरासन्ध के आकस्मिक आक्रमण करने पर श्रीकृष्ण ने तत्काल यादवो को द्वारिका समुद्र के पानी मे पहुचा दिया था। राजा नल को भी यह सिद्धि प्राप्त थी। अलौकिक कार्यो का सपादन अथवा असभव जैसे कार्यों का सभव बनाना ईशित्व सिद्धि का है। श्रीकृष्ण ने द्वारिका बैठे हो द्रौपदी का चीर इसी शक्ति से बढा दिया था और वशित्व सिद्धि से व कालीदह मे कूद पडे थे। नागराज को उन्होने अपने वश मे कर लिया था।

मत्रो पर अत्यधिक आश्रित हो जाने के कारण हम आज सहज ही इन सिद्धियो पर विश्वास नही करते परन्तु इनका अस्तित्व और प्रयोग अवश्य रहा है।

भगवान की चौथी कला धम है। प्रकृति के नित्य नियमो की समष्टि ही धर्म है। जो इन नियमो से अपना जीवन सचालित करता है वही सधर्मी है और वही धम का रक्षक है। धम का दूसरा कोई रूप नही धम के नाम से हम जिस स्वरुप को जानते हैं वह मत, पथ, सप्रादाय है, धम नही। धम के लिए

यो धृत सन धारयते स धम इति कथ्यते
धर्म एव हतो हन्ति धर्म्मो रक्षति रक्षित

साराश है कि धारण करने वाले तत्व को ही धम कहते है इसकी रक्षा करने में हा अपनी रक्षा ह।

भगवान की पाचवी कला को यश कहा गया है। यश एक सौम्य प्राण है इसका सम्बन्ध चन्द्रमा से है। चन्द्रमा के तीन मनोता-श्रद्धा, यश और रेत बताये गए है। उनमे एक यश है। चन्द्रमा से यह यश प्राण जन्म से ही प्रतिष्ठित होता है, वह यशस्वी होता है। कई बार हम देखते हैं कि अपात्रा को पुरस्कार प्राप्त हो जाता है और सुपात्र इससे वचित रह जाते हैं। बस अनुभव से हमे यह भी मानना होगा कि अन्यान्य कारणो के साथ इसका एक कारण प्रकृति भी होता है। यश प्राण सयोग के बिना यश नही मिलता।

भगवान की छठी कला श्री सम्बन्ध पृथ्वी से है। शरीर की काति ही श्री है। शरीर की स्थूल रचना पृथ्वी से है। जिस शरीर मे जन्म से ही यह कान्ति हाती है, वह श्री युक्त होता है।

उपर्युक्त छ कलाओ मे प्रथम चार का सम्बन्ध बुद्धियोग से यश का चन्द्रमा से और श्री का पृथ्वी से बताया गया है। वस्तुत बुद्धियोग ही महत्वपूर्ण है। बुद्धियोग से सम्बद्ध कलाए ही मनुष्य को भगवान की श्रेणी मे प्रतिष्ठित करती हैं, राम, कृष्ण, बुद्ध, वेदव्यास, कपिल, कणाद, पाणिनि इत्यादि पुरुषो मे बुद्धियोगवती कलाए विद्यमान रही है, परन्तु मात्रा का अन्तर रहा है। किसी मे कौन कला कम विकसित हुई तो किसी मे कौन। भगवान कृष्ण एक ऐसा अवतार माना जाता है जिसमे सभी कलाओ का सम्पूर्ण विकास हुआ है।

ज्ञान का विचार कीजिये तो उनका गीतोपदेश ही एकमात्र प्रमाण यह जानने को पर्याप्त है कि ज्ञान मे उनका सानी नही मिलता। हजारो वर्षो से विद्वद्गण गीता पर अध्ययन टीका, व्याख्यादि किए जा रहे हैं। सम्पूर्ण भूमण्डल मे गीता की प्रतिष्ठा व्याप्त है। श्रीकृष्ण के ज्ञान के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते है, परन्तु गीता उनके ज्ञान का चरमोत्कर्ष है। भगवान वेदव्यास ने ही उसे लिपिबद्ध अवश्य किया है परन्तु वे भी इसे भगवत् वाणी ही मानते हैं।

वैराग्य को ले तो वैराग्य का भी अनूठा पुट श्रीकृष्ण मे मिलता है। जिसकी अमृतवाणी राजर्षि विद्या के उपदेश से अर्जुन जैसे शूरवीर योद्धा का राग-द्वेष विरहित कर दिया हो, वह स्वय कितना वैराग्य पूर्ण होगा, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। वे इतने विरागी थे कि कस का साम्राज्य हस्तगत होने पर भी उस पर तनिक मात्र अधिकार नही रखा। व्रज मण्डल के रास विलास को एक क्षण म भुलाकर चल दिये। महाभारत जसे युद्ध को और रास विलास को जिन्होने एक ही भाव से देखा। उनके वैराग्य भाव की यह पराकाष्ठा है।

ऐश्वर्य से वे सम्पन्न थे। भगवान शकर को जहा हम योगेश्वर कहते है, श्रीकृष्ण को हम योगीश्वर कहते है। दुर्योधन की राज्य सभा म दूत बनकर उत्पातकरना, जयद्रथवध मे अर्जुन की प्रतिज्ञा को निभाना उनके योग के अनुपम दृष्टान्त है। अर्जुन को विराट रूप का दर्शन करवाना तो अपने आप मे एक घटना है जिसने अर्जुन के मानस को एक झटके मे बदलकर रख दिया।

धर्म की वे साक्षात मूर्ति थे। 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाण" कह कर धर्म म अपनी अनन्य निष्ठा प्रगट की है। यश और श्री तो उनके

चरणो मे लुण्ठित कलाए थी। महाभारत मे पाण्डवो की विजय का यश उन्ही को मिला। उनकी श्री पर वाल, वृद्ध, युवा, नारी वृन्द, सभी मुग्ध रहे। इन्ही सब कारणो से श्रीकृष्ण को षोडशी अवतार अर्थात सम्पूर्ण अवतार माना जाता है। यही कारण है कि उनकी वाणी 'गीता" का श्रीमद्भगवत गीता कहा जाता है। अन्य किसी शास्त्र के साथ "भगवत्" शब्द का प्रयोग नही किया जाता। अलबत्ता अन्य कई विभूतियो को भगवान कहा जाता है।

भगवान या ईश्वर के सम्बन्ध मे उपर्युक्त विवेचन के साथ यह भी जान लेना उचित होगा कि वेद मे वर्णित आत्म विज्ञान एव सृष्टि विद्या मे भगवान का एक निश्चित् स्थान है। इससे ऊपर भी महान् सत्ताए है जिनका विस्तार से विवेचन वेद मे किया गया है। अलबत्ता भगवान मे भी उन सभी सत्ताओ का समावेश है। इन सत्ताओ को आत्मन्वी विशेषण दिया गया है। इस विषय पर स्वतन्त्र रूप से विचार करने की आवश्यकता है।

—❀

ईश्वर का दूसरा स्वरूप

जैसा कि पूव मे एकाधिक बार कहा जा चुका है, जो अखण्ड, अनिर्वचनीय, अनुपास्य, अविज्ञेय, विशुद्ध आत्मा है उसका ज्ञान सभव नही है, परन्तु वह अनुभूति गम्य है। ज्ञान तो सखण्ड, सपरिग्रह आत्मा का ही सभव है। प्रश्न उपस्थित होता है कि एक ही आत्मा अनेक रूपो मे किस प्रकार विभक्त हो गया ? उत्तर है कि परिग्रह के कारण अखण्डात्म खण्ड खण्ड हो गया। प मोतीलाल शास्त्री ने "आत्मा स्वरूप विज्ञानोपनिषत्" मे स्पष्ट भाषा मे कहा है कि अद्वैतवादी जिसे अद्वैत का निरूपण कहते है, वह केवल भ्रम है। जो अद्वैत है, अखण्ड है, उसका निरूपण निवचन सम्भव हो नही। उनका कहना है कि सम्पूण प्रस्थानत्रयी (गीता, उपनिषत एव व्यास सूत्र। इन तीन शास्त्रो पर ही भारतीय चिन्तन आधारित है) मे कही भी यह नही पढा कि अखण्ड आत्मा का विवेचन सम्भव है। वेद–शास्त्रो मे निरूपण जहा भी हुआ है, सखण्डात्मा का ही हुआ है। उस अखण्ड, परात्पर सत्ता के निरूपण मे वेद भी मौन है।

परिग्रह ही शाब्दिक निरूपण का हेतु बनता है। हम जिस ईश्वर को मानते है, वह परिग्रह पूण ही है। वही हमारे निरूपण का विषय है। परिग्रह से ही वह निधर्मक तत्व सरधर्मोपपन्न बना हुआ है। परिग्रह का क्या स्वरूप है, इसका वेद मे विशद् निरूपण हुआ है। इस परिग्रह विज्ञान के जान लेने से सम्पूण सृष्टि का क्रम जाना जा सकता है। परिग्रह एक प्रकार का बधन ही है। ईशोपनिषत् मे इसी परिग्रह का स्वरूप आवरण तन्त्र के रूप म निरूपित किया गया है। इस परिग्रह के कई रूप है।

परिग्रह विज्ञान के अनुसार वह माया, कला, गुण, विकार अजन व आवरण भेद से छ रूपो मे विभक्त है। आत्मा इन छ परिग्रहो स

भिन्न भिन्न रूपों मे परिगृहीत है। इन छहों मे भी माया-कला का एक पृथक् विभाग है, गुण-विकार का एक पृथक विभाग है और अजन आवरण का एक पृथक् विभाग है। माया-कला अमृत परिग्रह है। गुण-विकार ब्रह्म परिग्रह मे है और अजन आवरण शुक्र परिग्रह मे है। इस प्रकार अमृतात्मा, ब्रह्मात्मा और शुक्रात्मा नाम स तीन परिग्रह युग्मो का वर्गीकरण हुआ है। परिग्रह मुक्त होने की अवस्था मे यह आत्मतत्व एक ही है। कठोपनिषत् मे कहा गया है "तदेव शुक्र तद् ब्रह्म तदवामृतमुच्यते"। परिगृहीत अवस्था मे वही विशुद्धात्मा तीन हैं। "आत्मन एक सन्नेतत त्रय त्रय सद्यमेक-आत्मा" [शतपथ]

माया परिग्रह एकाकी है। इसी को विश्व की अवान्तर खण्ड मायाओं की अपक्षा से महामाया कहा गया है। इस महामाया के उदय से वही अखण्ड परात्पर एक पुर मे सीमित बनकर पुरुष कहलाने लगता है। दूसरे शब्दो मे माया का उदय ही ईश्वर का उदय है। इससे पूर्व ईश्वर की सत्ता नही है। महामाया के उदय क साथ आत्मतत्व का रूप पुरुष कहलाता है वही ईश्वर की चरम अवस्था महेश्वर है। अभी इसमें कलाओं का उदय नही हुआ है। यह महामाया का एकाकी परिग्रह है। कला ही विविधता व अनेकता की जननी है। महेश्वर रूप मे वैविध्य का अभाव है। वह अव्यय है। इसे मायो महेश्वर भी कहा जा सकता है। मायातीत परात्पर निरजन है। सब का मूल एक है। एक से ही अनेक उत्पन्न हुए हैं। माया का उदय ही अग्रेतर अनेकता की भूमिका बनाता है।

माया के उपरान्त कला नाम से दूसरे परिग्रह का उदय होता है। यही योग माया है। यह एकाधिक खण्डो मे विभक्त है, परन्तु वह महा माया से नित्य युक्त रहती है। इस युक्त भाव से ही वह योग माया रूप मे है। कहने का तात्पय यह है कि तत्वा का योग अग्रेतर जाता है और इसी तरह परिग्रह का भी विस्तार हो जाता है। साथ-साथ वैविध्य का क्रम बन जाता है। यह योगमाया ह पर मोह मूलक नानात्वभाव का निर्माण करती है। इसके विष्णु माया, रुद्र माया, शिव माया, अग्नि माया, सोम माया, इस योग माया गर्भित कला सग से ही वही निष्कल महेश्व

सकल अथवा-षोडशकल बन जाता है। पुरुष अब षोडशी पुरुष कहलाने लगता है। यही योगेश्वर भी कहलाता है।

कला सर्ग के प्रसंग मे यह उल्लेख करना उचित होगा कि अव्यय के बाद अक्षर रूप प्रकृति का उदय होता है और तदनन्तर क्षर रूप वैकारिक भूतो का उदय होता है। ये सभी पचकाल अर्थात् पाच कलाओं मे युक्त है। अव्यय की पाच कलायें-आनन्द, विज्ञान, मन प्राण, वाक् हैं। अक्षर की पच कलायें ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम हैं। क्षर की पच कलायें प्राण, आप, वाक्, अन्न व अन्नाद है। इन सभी से परात्पर अद्धमानिक रूप मे आधारभूत व्याप्त रहता है। वह परिग्रह के कारण उत्तरोत्तर खण्ड रूप मे विभक्त होता जाता है, परन्तु सभी मे अन्तर्निहित रहता है, यही सर्वव्यापी आत्म तत्व है। वही खण्डात्माओं के रूप मे हमारे सामने आता है।

ऊपर जिस षोडशकल पुरुष का उल्लेख हुआ है। उसकी षोडश कलाय अव्यय, अक्षर, क्षर, पचको मे निहित है एव एक अद्ध मानिक परात्पर है। षोडशी पुरुष की यही सम्पत्ति है।

इसके उपरान्त गुण-विकार परिग्रह का उदय है। आत्म परिग्रह का दूसरा युग्म है। प्रथम युग्म माया कला परिग्रह का ऊपर उल्लेख हो चुका है। गुण का मुख्य सम्बन्ध प्रकृति से है जो अक्षर रूप मे भी जानी जाती है। गुणभाव से सत्य प्रजापति [प्रजासृष्टि उत्पन्न करने के तत्वो की समष्टि] का उदय होता है। वही पुरुषात्मा सवगुण [सत्व, रज, तमोगुण से युक्त] बनता हुआ सत्य प्रजापति कहलाने लगता है। विकार परिग्रह से अर्थात गुणो के परस्पर यजन से वही सत्य प्रजापति यज्ञ प्रजापति कहलाने लगता है। सत्य पर यज्ञ प्रतिष्ठित है। गुणो पर ही विकार प्रतिष्ठित है। सत्य त्रयी वेदात्मक है। वही विकार रूप से यौगिक अवस्था मे यज्ञ प्रजापति बन जाता है। यही विकार रूप से यौगिक अवस्था मे यज्ञ प्रजापति बन जाता है। यही मूल प्रकृति है और इसी को ब्रह्म कहा जाता है। ब्रह्म शब्द की वैज्ञानिक व्याख्या यह है कि जो तत्व उपादान बने हुए भी अविकृत बना रहता है। इस शब्द की उत्पत्ति बृह धातु मे मनिन् प्रत्यय लगने से हुई है। प्रकृति से सम्पूर्ण विश्व का निर्माण हुआ है, परन्तु वह यथावत् बनी हुई है। इसी से उसको अक्षर रूप मे भी

भी जाना जाता है। जिस प्रकार ग्रोणदाम [मकडी] अपने शरीर म निहित पदार्थ से जाल बुनती है, परन्तु वह पदार्थ और स्वय क्षीण नही होती, वही प्रकृति का स्वरूप है। इसी अविकृत परिणाम वाद के कारण प्रकृति को, अक्षर ब्रह्म कहा गया है।
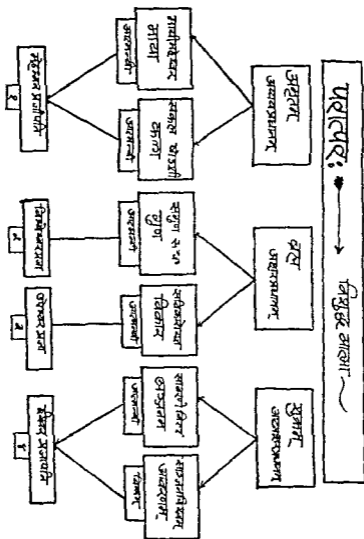
प मधुसूदन ग्रोभा ने कई रूपो मे ईश्वर का वैनानिक निरूपण किया है जिससे ईश्वर के विषय में रहस्यात्मक धारणाम्रो का निवारण हो जाता है। सृष्टि विज्ञान की दृष्टि से परिग्रह का क्या स्वरूप है इसे रेखाम्रो के माध्यन से सुस्पष्ट किया गया है।

आत्मपरिग्रह का तीसरा युग्म, अजन आवरण युक्त है। अजन और आवरण में गुणात्मक भेद है। स्वच्छ आवरण ही अजन है। मलिन आवरण आवरण है। दीपक पर काच तो अजन है, परन्तु पट आवरण है। काच के आवरण में दीपक की प्रभा एकान्तत अवरुद्ध हो जाती है। अजन और आवरण में यही अन्तर है। इन दोनों में आवरण जड भाव का प्रवर्तक माना गया है ईश्वर प्रजापति अजन परिग्रह से विराट् रूप में परिणत हो जाता है। ये दो भेद हैं ईश्वर और जीव। सात्विक अजन में ईश्वर विराट् का और पापमा नाम से प्रसिद्ध तामस अजन से जीव की उत्पत्ति होती है। ईश्वरीय अजन को विभूति माना गया है। ईश्वरीय सत्ता में लोक, वेद, देव, भूत और पशु सम्मिलित है। पशु की परिभाषा में सम्पूर्ण प्रजा सम्मिलित मानी गयी है। यही ईश प्रजापति का अजन पच मय साम्राज्य है। ईश्वर का अंशभूत ही जीव विराट है। इसमें सप्त तामस अजन व्याप्त है जो पर्याय, उर्म्मि, आशय, अवस्था, क्लेश, कर्म और विपाक नाम से प्रसिद्ध है।

ईश्वर नित्य मुक्त है कभी बधन और मुक्ति जैसे पर्याय सम्बन्ध का उसमें अभाव है परन्तु जीव में यह पर्याय सम्बन्ध है। ईश्वर में क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा, व्याधि इन छ ऊर्म्मियों का अभाव है, परन्तु जीव इनसे नित्य मुक्त है। ईश्वर में भावना वासना या ज्ञान कर्म सस्कार रूपी आशय का अभाव है। परन्तु जीव में दोनों निहित हैं। ईश्वर नित्य प्रबुद्ध है, नित्यकर्म है, अत वे अवस्थाओं से रहित है। जीव में जागति, स्वप्न, सुषुप्ति मोह, मूर्छा, मृत्यु में छहों अवस्थायें रहती है। ईश्वर कर्म से विहित है परन्तु जीव सत् और असत् दोनों कर्मों में लिप्त है। यज्ञ, तप, दान ये सत्कर्म हैं। इष्ट, आपूर्ति, दत्त ये विद्यानिरपेक्ष कर्म है और अगम्यागमन, वध हिंसा, स्तेय, छल, इत्यादि असत कर्म है। ईश्वर जाति, आयु योग नामक तीनों कर्म विपाकों से मुक्त है, परन्तु जीव इनमें लिप्त है। परिग्रह का यही स्वरूप है।

ऊपर जिन छ परिग्रहों का तीन युग्मों में निरुपण किया गया है। उनमें चेतन प्रकाश पाचवें परिग्रह तक अर्थात अजन परिग्रह तक रहता है। यह ईश्वरीय विभूति है। इसके अन तर जड भाव का उदय होता है। अजन परिग्रह के उपरान्त आवरण का परिग्रह का प्रादुर्भाव होने के साथ ही आत्मज्योति अवरुद्ध होने लगती है। यही छठा परिग्रह विश्व प्रजा-

पति है और यही उस विराट् ईश्वर प्रजापति का शरीर है भौतिक क्षर प्रधान मत्य विश्व ही विश्व प्रजापति है। यह उल्लेखनीय है इस विश्व मे उत्तर के सभी परिग्रहो का समावेश रहता है। आवरण युक्त विश्व मे साजन विराट्, सविकारयज्ञ, सगुण सत्य, सकल षोडशी एव मायी महेश्वर की व्याप्ति अवश्य रहता है। जो परात्पर तत्व सभी परिग्रहो से सवथा मुक्त रहता है। वही सबमे व्याप्त रहता है।

परात्पर ही एक मात्र आत्मा है। विश्व प्रजापति ही एक मात्र शरीर है। शेष सभी स्वरूप आत्मन्वी है अर्थात् सोपाधिक आत्मा है। परमात्मा का कोई शरीर नही है वह विभु है, सव महान् है। वह मन्ता है, ज्ञात्वा नही। उसके लिए कहा गया है -

"महान्त विभुमात्मान मत्वाधीरो न शोचयति"

यह केवल सत्ता रूप मे मानने की वस्तु है, जानने का विषय नही है। ज्ञान तो ससीम, सखण्ड, सोपाधिक आत्मा का ही हो सकता है, असीम, अखण्ड निरुपाधिक का ज्ञान नही हो सकता। परात्पर को सवव्यापकता का स्थूल दृष्टान्त से समझा जा सकता है। सूय का प्रकाश सवत्र फैला रहता है। सौ-दो सौ पानी के घडे भरकर रख दीजिए। सभी घडो मे सूर्य का बिम्ब समान रूप से दिखाई देगा। यदि एक-दो घडे, फूट भी जाए ता उसका प्रभाव सूय के प्रकाश पर अथवा अन्य घडो मे दिखाई देने वाले सूय बिम्ब पर नही पडेगा। सूय का प्रकाश घडो के भीतर भी बिम्ब रूप मे है और बाहर भी सबत्र है। यही स्वरूप परात्पर का है। वह अमुक परिग्रह मे सीमित होता अवश्य है परन्तु इसके बाहर भी व्याप्त है। वह सभी आत्मपरिग्रहो के भीतर और बाहर व्याप्त है।

उपयुक्त विवेचन से आत्म परिग्रहो का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है और सृष्टि का जो क्रम है उसकी भी सक्षिप्त जानकारी हो जाती है। सामान्य धारणा यही है पच महाभूत ही ससृष्टि के मूल तत्व हैं परन्तु वस्तुत यह एक भ्रान्ति है। पच महाभूतो का उदय तो विकारक्षर से ही होता है और उसी से व्यक्त विश्व की रचना होती है। इससे पूव मे तत्वो की सुदीघ श्रृखला है जिसे सृष्टि रचना के क्रम मे गुप्प अणु, रेणु, भूत और महाभूतो के रूप मे स्पष्टत निरूपित किया गया है। यह स्वतत्र निबधक का विषय है।

★

सृष्टि का प्रवर्तक माया बल

माया के सम्बन्ध मे ज्ञान मार्गी एव भक्ति मार्गी सभी सप्रदाया मे अपनी अपनी मान्यताए हैं। सर्वसामान्य जना मे आज यह मान्यता है कि माया सवथा त्याज्य है, उपेक्षणीय है, भ्रम है, छल है और मिथ्या है। इसके विपरीत माया के विषय मे वेदो की मान्यता पूर्णत सकारात्मक है। वेद माया को एक स्वतन्त्र सत्ता मानते है। वह उतनी ही सत्य है, जितना कि ब्रह्म। माया ही प्रकृति एव विश्व प्रपच की कारक शक्ति है। माया एक बल है जा विश्व का मूल बना हुआ है।

वेद मे निर्द्वन्द्व, निस्सग, अनिर्वचनीय, अचित्य सत्ता तो एक ही मानी गई है जो परात्पर है। उसका भान ता हो सकता है, परन्तु ज्ञान नही हो सकता। उसे शास्त्रानधिकृत माना गया है। वह रस रूप मे व्याप्त है। जो व्याप्त है उसमे गति, क्रियादि कुछ नही होता। इसी व्याप्त रस के महामण्डल मे माया बल सर्पण करता रहता है। माया बल का ऊर्ध्व सरण सृष्टि का कारक है तो अधा सपण प्रलय बन जाता है। माया वह तत्व है जो असीम को सीमित कर देता है, अमित को मित बना देना है। माया का यही मितभाव परात्पर मे लेकर सूक्ष्मतम अणु-परमाणु मात्र मे विद्यमान रहता है। इस भगवती महामाया के क्रोड मे महेश्वर, विश्वेश्वर, ईश्वर, ब्रह्मा (स्वयभू) विष्णु परमेष्ठी और इन्द्र (द्यौ) देव, असुर, पितर, गधव, पशु ओषधि, वनस्पति आदि सब समाये रहते हैं। रस रूप परात्पर मे माया बल का सर्पण होते ही एक प्रादेश बन जाता है। रस अपने आप मे स्थिर व्याप्त रहता है, परन्तु बल से उसमे सीमा मय प्रादेश बन जाता है।

रस और बल का यह युग्म कई युग्मो मे वर्णित है जसे आभू-अभ्व, रस-बल, अमृत-मृत्यु, ज्योति-तम, विद्या-अविद्या सत्-असत।

कहने का तात्पय यही है कि निर्विशेष, विशुद्ध परात्पर के अतिरिक्त जितनी भी सत्तायें हैं, जितने भी तत्व एव पदार्थ हैं वे सब माया बल से अभिभूत है, अर्थात् जो कुछ शास्त्राधिकृत है वह सब मायामय है सब कुछ द्वद्वात्मक है। माया ही परात्पर मे सीमित भाव उत्पन्न करके हृदय नामक तत्व की स्थापना करती है और स्थिति को मध्यस्थ बनाकर गति-आगति का समारम्भ करती है। वेद-विज्ञान का भाषा मे वर्णित स्थिति ही ब्रह्मा है, गति ही इद्र है और आगति ही विष्णु है। ये सब मायाधीन हैं। (इन्द्र का अथ यहा रुद्र ही है) जो अज्ञेय है, अनुपास्य और अचित्य है, उस पर क्या विचार किया जा सकता है परन्तु जा ज्ञय है, उपास्य है और जो शास्त्राधिकृत है उसका स्वरूप वेदो मे स्पष्टत वर्णित है और वह माया बल से सयुक्त है। वह उसी परात्पर का अशभूत ईश्वर है, वही पुरुष प्रजापति है और वही षोडशी पुरुष के रूप मे जाना गया है। पुरुष मे जो पुर (सीमा) भाव है माया ही है। पुरशेतीतिपुरुष ।

माया बल अनन्त है असख्य है, परन्तु वे सभी 16 कोषो मे विभक्त हैं। इन कोषो के नाम विगत मे गिनाये जा चुके हैं। प्रस्तुत चर्चा मे इनके स्वरूप का सक्षेप मे विवेचन किया जा रहा है। ये बल कोष है, विद्या, माया, जाया, धारा, आप, हृदय भूति, यज्ञ, सूत्र, सत्य, अश्व, यक्ष, मोह, वय, वयोनाधि एव वमुन। य बल कोष भी पाच स्वतन्त्र विवर्तो मे विभक्त हैं।

सब प्रधान बल माया बल है। अन्य सभी बल के गभ मे निहित है। जो महाबल परात्पर मे सीमाभाव उत्पन्न कर देता है, वही सृष्टि का प्रवतक बनता है। परात्पर मे सीमाभाव उत्पन्न करके वही पुरुष धारण करता है। यह बल होते हुए भी चूकि परात्पर से ही उद्भूत है अत शास्त्रकार इसका स्पष्ट विवेचन करते समय दुविधा मे पड जाते है। बल रूप से मृत्यु भावात्मक होते हुए भी परात्पर के सयोग से वह अमृत भावात्मक भी है। इसके लिये कहा गया है —

न सती सा नासती सा नोभयात्मा विरोधत
काचिद् विलक्षणा माया, वस्तुभूना सनातनी

इस माया बल के कई विवत माने गये हैं। यथा -महामाया, योगमाया, विष्णु माया, ब्रह्म माया, शिव माया इत्यादि। महामाया ही

आदि माया है । इसी का उदय सर्वप्रथम होता है । अन्य सभी माया बल इसके गर्भ में हैं । 'विश्वात्मा' नाम से प्रसिद्ध ईश प्रजापति का स्वरूप निर्माण यही करती है । यही जगन्माता विश्व व्यापिनी आदि माया, महामाया है । इसी से उत्पन्न इतर माया बल भिन्न भिन्न सीमाओं में स्वयंभू परमेष्ठी सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि विश्व पर्वों का निर्माण करते हैं । इतर माया बल अपनी अपनी सीमाओं में सीमित होते हुए भी चूंकि महामाया से युक्त रहते हैं अतः उन्हें योगमाया कहा गया है । इन माया बलों का प्रसार अणु-परमाणु तक हो रहा है । यही कारण है कि विश्वमूल मायी महेश्वर अव्यय सर्वसाधारण से दूर से दूर हो रहा है । वह इन्हीं योगमाया खण्डों के आवरण में तिरोहित है । आत्म स्वरूप इसी योग माया से आच्छादित है । यही योगमाया है ।

सत, रज, तम, माया, महामाया, योगमायादि शब्दों का व्यवहार हम नित्य प्रति करते हैं । ये भिन्न भिन्न सृष्टि मूलक तत्वों के दायरे या मण्डल हैं । यही स्वरूप ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र (स्वयंभू, परमेष्ठी, सूर्य) आदि का है । योग माया एक से अधिक तत्वों का योग मात्र है । वेदों में इन सभी तत्वों का विवेचन इस क्रम में किया है कि सृष्टि एवं इससे ऊपर की सत्ताओं का वैज्ञानिक स्वरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत हो जाय । जो सृष्टि हम प्रत्यक्ष देखते हैं, वह पंच महाभूत मात्र का सम्मिश्रण मात्र नहीं है, बल्कि इसके मूल में उत्तरोत्तर कई तत्वों का सुसंगठित, सुव्यवस्थित क्रम है । इसी क्रम में ब्रह्म, मायादि सब सम्मिलित हैं और सभी का स्वरूप तत्वात्मक है । ये शब्द इतने रूढ़ हो गये हैं कि हमें रहस्यमय अथवा अर्थहीन प्रतीत होते हैं । इसका कारण वैज्ञानिक दृष्टि का सर्वथा लोप हो जाना है । मानव प्रज्ञा से सम्बन्ध रखने वाला विज्ञान वर्तमान में भौतिक प्रयोगशालाओं में निबद्ध है । अथवा शिल्प के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है । दर्शन ज्ञान और भक्ति पर आधारित विभिन्न सम्प्रदायों ने भी विज्ञान का लोप करने में महती भूमिका निभाई है । यही कारण है कि कितने ही अति महत्वपूर्ण शब्द आज अर्थ हीन हो गये किंवा कुछ का कुछ अर्थ देने वाले बन गये । माया भी एक ऐसा ही शब्द है ।

ब्रह्म माया को ही लें । यह वह तत्व है जो पदार्थ का स्वरूप स्थिर अथवा प्रतिष्ठित रखता है । वस्तु की उपलब्धि भी ब्रह्म माया से ही होती

है। विश्व का मूल भी यही है। वस्तु तत्व मे वेदत्रयी (तीनो वेद) सयुक्त होते हैं। 'यजुर्वेद वस्तु का केन्द्र' है। ऋग्वेद पिण्ड है और सामवेद उसका मण्डल है। तीनो ब्रह्म माया से ही उपलब्ध होते है। प्रजापति इसी ब्रह्म माया के सयोग से सृष्टि रचना मे प्रवृत्त हाता है। प्रजापति और ब्रह्ममाया दोनो सृष्टि के घटक तत्व ह।

विष्णु माया की भूमिका भिन्न ह। यह यज्ञ स्वरूप ह। कहा गया है यज्ञो वै विष्णु विष्णु वै यज्ञ। विश्व मे अन्न-अन्नादभाव प्रतिष्ठित ह। यह विश्व इसी भाव से सचालित हो रहा ह। कहा गया है सर्वमिदमन्नम् सर्वमिदमन्नाद अर्थात् सभी कुछ अन्न रूप है और सभी भोक्ता है। आदान और विसग सृष्टि का सूत्र है। यह सूत्र विष्णु माया से ही प्रतिष्ठित है। ब्रह्म माया की प्रतिष्ठा भी इसी विष्णु माया से है। सृष्टि का पालन इसी अन्न-अन्नादयज्ञ से हो रहा है। जब तक विष्णुमाया का अनुग्रह है अर्थात आदान क्रम बना हुआ है तभी तक अन्नयज्ञ सुरक्षित है तभी तक वस्तु सोमात्मक योग माया का विकास है। विष्णु माया को ही याग माया भी कहा गया है। इसी के सयोग से प्रजापति विश्व का पालन सचालन कर रहा है। पौराणिक भाषा मे भी विष्णु को सृष्टि का पालक देवता माना गया है। वैज्ञानिक भाषा मे वह माया का ही एक रूप है। परन्तु उसका काय यही है। अन्न-अन्नाद भाव का सचालन-नियमन ही सृष्टि के निर्वाह का आधार है और यही विष्णु माया की मुख्य भूमिका है।

शिव माया इस नाम रूपात्मक सृष्टि के स्वरूप की रक्षा करती है। भौतिक विश्व नाम रूपात्मक ही है। नाम रूप ही अथ प्रपच है। अथ ही भूत का काय है। शिव माया को इन्द्र माया भी कहा गया है। पुराण का शिव एव विज्ञान का इन्द्र एक ही देवता है अत शिव माया ही इन्द्र माया है। इन्द्र माया ही नाम-रूपात्मक अर्थ प्रपच का स्वरूप बनाये रखती है।

ब्रह्म विष्णु, इन्द्र (शिव) तीनो ही तीन योगमायाओ के व्यष्टि स्वरूप हैं। समष्टि रूप मे वे ब्रह्म माया, विष्णु माया और शिव माया है। पुराणो मे शिव को सहार या विध्वस का देवता माना गया है। विज्ञान भाषा में इन्द्र को द्यौ प्रधान कहा गया है। द्यौ का स्वरूप साम क ही

कारण द्युतिमान है और वह आदित्य बना हुआ है परन्तु द्यौ का आदान क्रम उच्छिन्न हो जाने पर वही रुद्र का रूप धारण कर लेता है। पुराणो मे शिव को त्रिनेत्र देवता माना गया है। आदित्य ही उसका तीसरा नेत्र है। शिव के तीन नेत्रो को वैज्ञानिको ने तीन ज्योतियो के रूप में प्रस्तुत किया है। रूप ज्योतिलक्षणा पार्थिव ज्योति है जो अग्नि धर्मा है। परज्योति स्वरूप चन्द्रमा है जो सोम प्रधान है। स्वज्योतिस्वरूप सूय है जा इन्द्र है। स्वज्योति (सूय) परज्योति (चन्द्रमा) और रूप ज्याति (पृथ्वी) ही शिव के तीन नेत्र है। अग्नि–सोम यज्ञ से शून्य रहते हुए इन्द्र का स्वरूप रुद्र ही रहता है जा सहारक है। सोमाहुति से सूय रूपी तृतीय नेत्र बन्द रहता है। सोमाहुति समाप्त होते ही वह रुद्र रूप धारण कर लेता है। अग्नि सोमात्मक इन्द्र के समन्वय को ही शिव कहा गया है। यही कल्याण स्वरूप है।

पुराण मे जो देवत्रयी है वही वेद विज्ञान मे पच देव बन जाती है। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र के साथ अग्नि और सोमका भी योग है। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र का विकास यहा योगमाया के अशभूत सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण के आधार पर हुआ है।

माया बल के उपर्युक्त निरूपण से यह प्रगट है कि यह सृष्टि का मुख्य बल है और कारक भी है। जो मूल सत्ता है और जिस पर भगवती महामाया भी आधारित है तो वह तो निष्क्रिय है और व्याप्त है। क्रियात्मक रूप माया ही है। नाम रूप, कर्म, इत्यादि का सचालन मायाबल से ही होता है। यह माया बल सवत्र विद्यमान है। महामाया स्वय इतनी बडी सत्ता है जिसमे सभी कुछ समाया हुआ है। इसका बखान करना भी बडे बडे मनीषियो के लिए सवथा सम्भव नही है।

इस सदभ मे हम अपनी सर्वसामान्य धारणाओ को आकें तो वे सही नही प्रतीत होती है। सामान्य धारणा यह है कि माया को तुच्छ, त्याज्य एव उपेक्षणीय वस्तु है। ससार को माया कहकर कितने ही उपदेशक तिरस्कार पूर्ण दृष्टि से देखते हैं। माया हमारे यहा शून्यवाद, दुखवाद और नैराश्य की प्रतीक बनी हुई है। सृष्टि के मुख्य बल के रूप मे हमारे किसी विचारक विद्वान्–मनीषी, आचाय ने प्रस्तुत नहीं किया।

प० मधुसुदन ओझा ने सर्वप्रथम इस शून्यवाद पर प्रहार किया और माया के रहस्य को खोलकार समझाया। उन्ही के शिष्य प मोती लाल शास्त्री जी ने उस पर विस्तार से चर्चा की। उनके अनेक बृहत् ग्रन्थो मे माया के भिन्न भिन्न स्वरूपो पर विचार हुआ है। उनका तो यह निश्चित मत है कि इस देश को या आर्य जाति की ही जो अधोगति हुई है, उसका प्रमुख कारण यह शू यवाद है धम निष्ठा का स्थान तो सप्रदाय निष्ठा ने ले लिया और ज्ञान का स्थान शू यवाद ने ले लिया अत शाश्वत धम का लोप हा गया। यही कारण है कि आज हमारी यह दशा हो गई।

(प्रस्तुत प्रकरण माया वल पर ही उपरत किया जा रहा है। अन्य बलो के बारे म अग्रेतर विचार किया जायेगा।)

-0-

अन्य मायाबल

माया बल के बारे मे विगत मे चर्चा की जा चुकी है। वेद मे वर्णित महामाया के सोलह बल कोपो मे माया बल कोप ही प्रमुख है, परन्तु अन्य बल कोपो का महत्व भी किसी तरह कम नही माना जा सकता।

परात्पर मे जब माया बल का उदय होता है, उससे एक सीमित प्रदेश का निर्माण होता है। इसे पुर के रूप मे भी जाना जाता है। परिधिमय पुर के निर्माण से उस प्रदेश को पुरुष की सज्ञा दी गई है। यही विज्ञान भाषा मे अव्यय पुरुष कहा गया है। परात्पर चूकि एक व्यापक सत्ता है उसमे कोई केन्द्र नही होता अथवा उसका प्रत्येक बिन्दु ही केन्द्र होता है। केन्द्र वही होता है जहा कोई परिधि होती है।

अव्यय पुरुष चूकि परिधियुक्त है उसमे केन्द्र उत्पन्न होता है। इसी केन्द्र को "हृदय" कहा गया है। यह गतिस्वरूप है। गति की सभी अवस्थाये इसमे गर्भित है अत इसे हृदय नामक बलकोप कहा गया है। गति, आगति और स्थिति की समष्टि ही हृदय है। स्थिति ब्रह्मा है, आगति विष्णु है गति विसर्ग मूलक होने से इन्द्र है। आगति जब स्थिति मे समा जाती है तो वह स्नेह गति बन जाती है। जब स्थिति मे से नि सृत होती है—तेजोमति बन जाती है। स्नेहधर्मागति सोममयी है, तेज धर्मागति अग्निमय है। इस गति के कुल पाचो स्वरूप ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम है। यही अक्षरतत्व की पाच कलायें मानी गई है। माया बल का अग्रेतर वितान होते होते ये कलायें और नये-नये बल कोपो का उदय होता है और सृष्टि का स्वरूप निर्मित होता है। दय को पचाक्षरमय अक्षरतत्व कहा गया है-जो अव्यय के बाद प्रगट होता

है। ऐतरेय श्रुति कहती है 'यदक्षर पचविघसमेति युजो युक्ता अभिमत् सवहन्ति"।

आविर्भाव-तिरोभाव अथवा सभृति–विनष्टि मय वल ही भृति वल के रूप मे जाना जाता है। इस वल के बिना पदाथ या वस्तु का स्वरूप नही वन सकता और उसका विनाश भो नही हो सकता प्रत्येक पदाथ मे प्राणन अपानन नामक दो क्रियायें सदैव वतमान रहनी हैं। यह भूति वल की ही महिमा ह। इसी बल के कारण वस्तु के स्वरूप मे परिवतन होता रहता ह। नास्ति-अस्ति-नास्ति इसका स्वरूप ह। प्राणन–अपानन व्यापार इसी वल से सचालित ह। प्राणन सारतत्व ह और अपानन पार्थिव तत्व है।

जिस वल के आधार पर शरीराग्नि मे अन्नाधान होता है वही वल अशनाया कहलाया है जो यज्ञ-सूत्र वल दो भागो मे विभक्त है। अन्न का अग्नि मे आहुत होना ही यज्ञवल है। इस बल के उच्छिन्न हो जाने पर भुक्त अन्न का पाचन सम्भव नही। "अशनाया" शब्द वैज्ञानिक है जिसे लोकभाषा मे भूख कहा जाता है। अश अर्थात् अन्न की इच्छा ही अशनाय है और इस चेष्टा की पूर्ति वल के द्वारा होती है। जिस आकपण से अन्न अग्नि मे आहुत होता है वही सूत्र वल है। हमारी आध्यात्मिक [शारीरिक] सस्था मे यज्ञ सूत्र वल का जो महत्व है वही महत्व आधि दैविक सस्था मे है। सूय इसी वल से अपनी रश्मियो के द्वारा पार्थिव रसात्मक अन्न को अपनी सवित्राग्नि मे आहुत करता रहता है। और ध्रुव ने इसी वल से विपुवत् वृत्त-पर पृथ्वी को निमत वृत्त (क्रान्तिवत्त) के माध्यम से परिभ्रमण करने को विवश कर रखा है। इसी वल को यज्ञ सूत्र वल कहा जाता है। यज्ञ बल विष्णु [आगति] प्रधान है और सूत्र वल गति [इन्द्र] प्रधान है। व्यवहार धम मे इनके नाम बदले हुए है।

पदार्थों का निर्माण करना और स्थूल रूप देना जाया वल का काय है। विजातीय वलो अर्थात विपम प्रकृति वाले तत्वो के चिति सम्बन्ध से अर्थात् सयोग से ही पदाथ उत्पन्न होते है। वलो के पारस्परिक सम्बन्ध असरय हैं, परन्तु तेरह श्रेणियो मे प्रधान प्रधान सम्बन्धो को बाट दिया गया है। विज्ञान भाषा मे इह [1] अलक्षण [2] विभूति [3] योग [4] वन्ध [5] अमित वृतितत्व [6] उदार [7] आसग [8] समवाय [9] सधि [10] दहरोत्तर [11] ओत-प्रोत [12] ग्रहातिग्रह एव

[13] अध्यूढ कहा गया है। जाया बल के साथ "वत्र" का सम्बन्ध है। यज्ञ परिभाषा में इसी को चिति सम्बन्ध कहा गया है। दार्शनिक भाषा में यह समष्टि किंवा सृष्टि कहलाता है। विजातीय बलों की परस्पर एक-दूसरे में आहुति होने पर अपने पूर्व स्वरूप का परित्याग करते हुए जिस नये स्वरूप को प्राप्त कर लेते है, रासायनिक सम्मिश्रण मय इसी सम्बन्ध को चिति कहा जाता है। सम्पूर्ण सृष्टि विवर्तों का मूल प्रवर्तक यही चिति सम्बन्ध है।

मारा और कोयला इसी सम्बन्ध के परिणाम स्वरूप बारुद बन जाते है। शुक्र एवं आर्तव [शोणित] इसी सम्बन्ध से सन्तान बन जाते है जिस चिति बल से बलों का परस्पर ग्रन्थि बंधन हो जाता है, उस चिति बल का मूलाधार बल ही जाया बल कहलाता है। चितिबल इसका क्रिया रूप है। सम्पूर्ण मैथुनी सृष्टि का मूलोपादान यही जाया बल है। जन्म देने वाला स्वरूप होने के कारण ही स्त्री को भी जाया कहा गया है।

बल प्रतिक्षण विलक्षण अवस्थाओं से क्षण क्षण मे परिवर्तनशील हैं। यदि एक विशेष बल इतने बलों के बीच प्रतिष्ठित न होता तो सभी का परस्पर सम्बन्ध छिन्न हो जाता। बलो के धारावाहिक सम्बन्ध को बनाये रखने वाला बल ही धारा बल है। इसे सन्तान बल भी कहा जाता है क्योकि यह बलो के सन्तनन का प्रवर्तक है। असख्य बलो का सघात ही पदार्थ है। इन पदार्थों के बलो मे रहने वाले क्षणिक परिवर्तनों के बावजूद उनमे स्थिरता की प्रतीति बनी रहती है धारा बल के कारण। गंगा का पानी प्रतिक्षण प्रवाहित है। जो जल सघात एक क्षण पूर्व दृष्टि के सम्मुख था वह बह गया परन्तु गंगा यथावत् है। पूर्व पूर्व पदार्थ उत्तरोत्तर मे विलीन होता रहता है, परन्तु उसकी समष्टि विद्यमान रहती है। भोजन, गमन, शयन पठन इत्यादि क्रिया मे असख्य क्रियाओं का कूट है अथवा व्यूहन है। अपने आप मे इन क्रियाओं का सघात रूप व्यूहन तभी सम्भव है जबकि धाराबल उनमे विद्यमान हो। यही धारा बल की महिमा है। इस सम्बन्ध मे भगवान् भर्तृहरि कहते हैं —

गुणभूतैरवयवैः समूह क्रम जन्मनाम
बुद्धया प्रकल्पितोभेद क्रियते व्यपदिश्यते।

पदार्थों मे पल पल परिवर्तित अणु-परमाणु सघात के उसके स्वरूप निरन्तरता यथावत रखना धाराबल से ही सभव है। इसका स्थूल

दृष्टान्त एक जल कुण्ड को देखे। कुण्ड मे एक नाली से पानी भर रहा है और एक नाली से निकल रहा है। फिर भी कुण्ड की जलाशयता स्थिर है। यही धारा बल है। यही सन्तनन भी कहा जा सकता है। सतान क्रम भी धारा बल का ही एक रूप है।

सवथा विघटित सजातीय विजातीय वलो को सगठित अथवा आत्मानुयोगिक बनाकर इन सबके ऊपर समान रूप से व्याप्त हाने वाला वल ही आपोवल है। प्रत्येक पदाथ मे शक्ति, वाय गुण, प्रभाव और पराक्रम पृथक-पृथक है। प्राणात्मक इन पाचो क्षुद्र वलो को एक बनाये रखने वाला अप्ति लक्षण वल ही आपावल है। जिस व्यक्ति की आध्यात्मिक (शारीरिक) सस्था मे आपोवल समाप्त हो जाता है, उसके उत्साह, धैय, शक्ति, पराक्रम इत्यादि बल उत्क्रा त हो जाते हैं। आपावल सम्पूण ब्रह्माण्ड मे भी समान रूप मे व्याप्त है। श्रुति मे "यदाप्नोति" कहकर इसके स्वरूप का निरूपण किया है।

चलते चलते आप थक जाते है। इसका अथ हुआ कि आध्यात्मिक आपोवल के आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाला गतिधर्मा शारीरिक प्राण क्षीण हो जाता है। गतिधर्मा प्राण के शिथिल होते ही आप थक जाते है। तनिक विश्राम के बाद सवव्यापक वही आपोवल आपके शरीर मे प्रवेश करके शरीरावयवो को शक्ति प्रदान कर देता है और आप पुन चलने लगते है।

सत्रमापोमय जगत् के सिद्धान्त के अनुसार यह आपोबल अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव मे सवत्र व्याप्त है। जाया, धारा और आपोबल का परस्पर ग्रन्थि बधन है। इसी कारण पानी मे तीनो बल विद्यमान हैं। सिंचन कम मे जायाभाव है। धाराबल और आप्तिभाव भी प्रत्यक्ष है, धारारूप है और व्याप्त है।

सत्य, यक्ष और अश्व वलो का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध बताया गया है। तीनो मे सत्यबल आधार है। यक्ष एव अश्व बल आधेय हैं। सत्यवल त्रयीवेद का सग्राहक है। इसमे ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद तीना सम्मिलित है। यह तत्व रूप मे अपौरुषय, नित्यकूटस्थ एव वाक्शक्ति का मूल है। वेद सत्य के तीन रूपो मे ऋक और साम तो आयतन मात्र है। ब्रह्माग्नि लक्षण यजु पुरुष ही मुख्य है, सत्य की जो परिभाषा दाशनिको

या नीतिशास्त्रियों ने की है, उन सभी मे मतमतान्तर और विवाद है परन्तु सत्य की जो वैज्ञानिक परिभाषा है वह अटल अकाट्य है। सहृदय शरीर सत्यम अर्थात् शरीर एवं हृदय अथवा परिधि एवं केन्द्र को समष्टि ही सत्य है। ऋक्, साम और यजु की समष्टि ही सत्य है। यजु केन्द्र है, ऋक् साम आयतन है। यजु का यत भाग गति रूप है, जू भाग स्थित रूप है। इस सत्य बल का उद्भव सूर्य एवं परमेष्ठी लोक मे ऊपर सत्य लोक नामक स्वयंभू से हुआ है। गायत्री के अन्तिम अक्षर को सत्यम् कहा गया है यह सप्त भुवन शृंखला मे अन्तिम भुवन अथवा लोक है। स्वयम् का अपना आकाश है जो परमाकाश कहा गया है। इसमे यक्ष बल का आवरण रहता है और इसी मे नाम, रूप, कर्ममय विश्व का उपादान विकसित होता । नाम, रूप, कर्म को मृत्यु त्रयी कहा गया है। यह यक्ष है। एक तीसरा वनअश्व बल है जो सत्यबल और यक्षबल मे सम्बन्ध रखता है। यह अनिर्वचनीय बल है और बड़ा विलक्षण है। नाम, रूप, कर्म का भेद उत्पन्न करने वाला बल यक्ष बल है परन्तु कुछ न होकर भी होने की प्रतीति करने वाला बल अश्वबल है। यह अभाव मे भाव की प्रतीति करवाता है। रात्रि, तम, दिक्, देश, काल, परिणाम, परत्व, अपरत्व, भाग, विभाग, संयोग, पृथक् तत्व आदि भाति सिद्ध पदार्थ इसी बल के कारण है। भाति पदार्थ पदार्थ वे है जो वास्तव मे नहीं होते है उन्हे प्रतीति से ही मानना पड़ता है। इस अश्व बल का अपभ्रंश लोकभाषा मे "हाऊ" है। हाऊ जैसी कोई वस्तु नही है परन्तु उसकी प्रतीति मात्र से बालकों को डर लगता है।

अश्व बल का ही विकसित रूप मोह बल है। इस बल के प्रभाव मे असत्य पदार्थ भी सत्य प्रतीति होते है। शुक्ति (सीपी) मे रजत का भ्रम, रज्जु (रस्सी) मे सर्प का भ्रम, मरु मे मरीचिका का भ्रम इत्यादि इसी मोहबल के कारण है। यह अविद्या मूलक बल है जिससे आत्म ज्योति पर आवरण पड जाता है। इसलिए कहा गया है—"अज्ञानेनावृत ज्ञान तेन मुह्यन्ति जन्तव"

अन्त मे तीनों बलों की समष्टि वय, वयोनाध एवं वयुन है। गुण-कर्म मय वस्तु तत्व वय है, वस्तु तत्व को आकार देकर सीमित करने वाला बल वयोनाध है। इसे छन्द भी कहा जाता है। दोनों बलों को एक सूत्र मे बांधे रखने वाला बल वय है। यह भी कहा जा सकता है कि वयोनाध से वय मे समान रूप मे व्याप्त रहने वाला बल ही वयुन है।

सोलहवा बल विद्या बल है। ऊपर के पन्द्रह बल अविद्याबल माने जाते हैं जो प्रवर्तक बल भी कहे जाते हैं। इन्ही से सृष्टि की प्रवृत्ति होती है। जिस बल से अविद्याबलों की ग्रन्थि का निर्मोक [मुक्ति] होता है उसे विद्याबल कहा गया है। ईश्वर प्रजापति विद्या-अविद्या दोनों बल समष्टियों से युक्त है। आनन्द विज्ञान मनोमय ईश्वर पुरुष विद्या प्रधान है और मनु, प्राण, वाक् युक्त ईश्वर पुरुष अविद्या प्रधान है। मन दोनों में मध्यस्थ है। इसी से गीता में कहा गया है "मन एव मनुष्याणाम् कारण बन्ध मोक्षयो" मन जब आनन्द-विज्ञान मय विद्या भाग से संयुक्त हो जाता है मुक्ति का पथिक बन जाता है। वही जब प्राण-वाक् मय सृष्टि प्रपंच में रत हो जाता है बंधन में बंध जाता है।

बंधन ही मायाबल का कार्य है। वही सर्वव्यापी आत्मा को खण्ड खण्ड रूप में विभाजित करता है। लोक दृष्टि से इसको यो कहा जा सकता है कि जिस प्रकार शासनतन्त्र शासन की व्यापक सत्ता को विभागों के रूप में खण्ड खण्ड करके विभाजित कर देता है उसी प्रकार मायाबल भी आत्मा के खण्ड कर देता है। सत्ता सर्वत्र व्याप्त है परन्तु तन्त्र के परिग्रह से वह आवृत है, आच्छादित है।

—❀❀—

सृष्टि की रचना व विकास

सृष्टि की उत्पत्ति एव विकास के सम्बन्ध मे वेद का स्वतन्त्र विज्ञान है । वेद विज्ञान के अनुसार सृष्टि का विकास एक सुस्पष्ट मर्यादा मे होता है । वानर से मनुष्य के विकास का सिद्धान्त वैज्ञानिक मर्यादा से बाहर है । यदि यह वैज्ञानिक क्रम होता तो वानर जाति सृष्टि मे नाम शेष ही रह जाती । इस क्रम के आधार पर तो यह भी मानना पडता कि सिंह जाति का विकास बिल्ली मे हुआ है, क्योकि बिल्ला और शेर मे कितनी ही समानताए हैं ।

एकाधिक बार यह उल्लेख किया जा चुका है कि यह जगत् अग्नि-सोम मय है और इसका विकास सवत्सर मण्डल के भीतर ही है । सवत्सर के बाहर कही सृष्टि नही है ।

वेद मे सवत्सर का जो स्वरूप बताया गया है वह ध्यान देने योग्य है । खगोल विषुवत् रेखा के माध्यम से दो भागो म विभक्त है । विषुवद् के उत्तर मे उत्तरी गोलार्द्ध और दक्षिण मे दक्षिणी गोलार्द्ध है । इसी विषुवत को वृहती भी कहा गया है । इस रेखा के उत्तर और दक्षिण मे 24-24 अश तक जो मण्डल है वही सवत्सर है । विषुवत् के उत्तर मे 12,8,4 अशो पर तीन रेखाए है और दक्षिण मे भी इसी क्रम से तीन रेखाए हैं । विषुवत् सहित ये सात रेखाओ मे निर्मित सात वत्त ही सात छन्द है । गायत्री, त्रिष्टुप, अनुष्टुप वृहती, जगती आदि इन्ही छन्दो के नाम हैं । यही सूय भगवान् के सात घोडे हैं । इन्ही से सूय रथ सवत्सर मण्डल मे अपनी परिक्रमा करता है । इसी सवत्सर मे सूय चन्द्रमा, पृथ्वी, ग्रह-तारा मण्डल समाये हुए हैं ।

सवत्सर मण्डल के उत्तर मे सोम तत्व व्याप्त है और दक्षिण मे अग्नि तत्व है । ये दोनो सवव्यापी तत्व हैं । आकाश गगा को सोम के

सागर के रूप मे ही देखा गया है। वेद चतुष्टयी मे सोम को अथर्ववेद कहा गया है। शेष तीना वेद-ऋक्-यजु, साम-अग्नि वेद हैं। तीनो ही अग्निया है। पृथ्वी अग्नि का ही घनरूप है। यजुर्वेद का प्रतीक वायु अग्नि का तरल रूप है और द्यौ रूप साम इसी अग्नि का विरल रूप है। ये तीना ही वेद अर्थात् तीनो ही अग्निया तापधर्मा स्थूल अग्नि नही हैं बल्कि प्राण रूप मे हैं, सूक्ष्म हैं, और सर्वत्र व्याप्त है।

इन तीनो अग्नियो के तीन स्वतन्त्र विश्व है। पृथ्वी, अतरिक्ष और आदित्य ही तीन विश्व हैं। अग्नि, वायु और आदित्य इन्द्र इन तीनो विश्वो के नरनायक हैं। इन नर नायको मे परस्पर सघर्षण अथवा मिश्रण होता है। इस सघर्षण से जो एक अपूर्व भाव, नयाभाव उत्पन्न होता है वह वैश्वानर है। यही ताप धर्मा अग्नि है। तीन विश्व के नर नायको से उत्पन्न होने के कारण इसे वैश्वानर कहा गया है और यह तीनो ही लोको मे व्याप्त है। इसीलिए इसे वैश्वानर विराट् कहा गया है। यही विराट पुरुष कहा गया है। यह पृथ्वी से सूर्य पर्यन्त व्याप्त है। यह सर्वभूतो मे व्याप्त है। हमारे शरीर मे भी ताप के रूप मे वह केश, लोम, नखो के अतिरिक्त पूर्णत व्याप्त है। यही जीवन का आधार है। जब तक वैश्वानर है तभी तक जीवन है।

वैश्वानर तीन तत्वो की समष्टि है। इसके भी तीन भेद हो जाते हैं। जिस भाग मे अग्नि या घन भाग अधिक और तरल विरल भाग अल्प मात्रा मे है, वह पृथ्वी है। जिसमे तरल भाग अधिक और घन-विरल भाग कम है वह अतरिक्ष है। जिसमे विरल भाग अधिक और घन तरल भाग कम है वह आदित्य है। तीनो तत्वो का रासायनिक मिश्रण वैश्वानर ही है, परन्तु इनके नाम बदल जाते है। पृथ्वी भाग का नाम भी वैश्वानर ही है, अतरिक्ष भाग हिरण्यगर्भ है और आदित्य भाग सर्वज्ञ नाम से जाना जाता है। पृथ्वी भाग अर्थमय है। अतरिक्ष अर्थात वायु-भाग क्रिया प्रधान है और सर्वज्ञ भाग ज्ञान प्रधान है। वैश्वानर, हिरण्य-गर्भ और सर्वज्ञ तीनो की समष्टि ही ईश्वर है। यही देव सत्य है। यही सर्वात्मना है। इसी से सम्पूर्ण सृष्टि होती है। सम्पूर्ण सृष्टि इसी का प्रवर्ग्य रूप है।

ज्ञान, क्रिया और अर्थमय देव सत्य से जो सृष्टि उत्पन्न होती है, वह तीन रूपो मे है। अर्थ प्रधान सृष्टि असज्ञ या अचेतन है। क्रिया

प्रधान सृष्टि अर्द्धसत्र या अर्द्ध चेतन और ज्ञान प्रधान सृष्टि ससज्ञ है। तीनो सृष्टियो को धातु सृष्टि, मूल सृष्टि और जीव सृष्टि कहा गया है। धातु सृष्टि मे लौह, पाषाण, स्वरण, रजत, हीरक, मुक्ता, पारा, माणिक्य सब सम्मिलित है। यह सृष्टि जड है। इसे एकेन्द्रिय भी कहा गया है। मूल सृष्टि म औषधि, वनस्पति सब आ जाते हैं फल पाकान्तर जिसका वृक्ष नष्ट हो जाता है उमे औषधि कहते हैं और जिसका वृक्ष बना रह जाता है उमे वनस्पति कहते है। जीव सृष्टि मे सभी 'जलचर' थलचर और नभचर प्राणी निहित है। सृष्टि का क्रम यही उपरत नही होता इसके आगे भी सृष्टि है परन्तु वह देव, असुर, यक्ष, राक्षस, पितर, गन्धव पिशाचादि रूप म अमूत है, अव्यक्त है, अशरीरी है।

ज्ञान तत्व का उद्भव सूय अथवा सौरमण्डल है। क्रिया तत्व वायु मूलक है और अथ तत्व पार्थिव है। अग्नि, वायु एव आदित्य के मिश्रण स जो तीन नये तत्व उत्पन्न होते है। वे वैश्वानर, हिरण्यगभ और सवज्ञ कहलाते है। ये ही क्रमश अथ, क्रिया और ज्ञान के स्रोत है।

हमारी सृष्टि मे जितने भी अचेतन पदाथ है वे सब वैश्वानर से अभिभूत ह। यही अचेतन सृष्टि ह। इनमे सवज्ञ अथवा ज्ञान तत्व का सवथा अभाव है। सृष्टि का अग्रेतर विकास होने पर अर्द्धचेतन सृष्टि उत्पन्न होती है जिसम वैश्वानर एव हिरण्यगभ दोनो तत्वो की प्रधानता है। औषधि-वनस्पति रूप अर्द्धचेतन सृष्टि म भी ज्ञान नही, परन्तु वह क्रियाशील है। वह ह्रास-विकासमय है। इसमे चतय भी है, परन्तु सुषुप्त है। वृक्ष चतन्य का सिद्धान्त वेद विज्ञान ने ही स्थापित किया है भले ही आधुनिक युग मे उसका आविष्कार करने का दावा कोई भी करे।

ससज्ञ सृष्टि वह है जिसमे ज्ञान अथवा सवज्ञ तत्व का समावेश हो गया हो। सवज्ञ का समावेश होते ही पदाथ अपना स्थान छोड देता है। धातु सृष्टि एकात्मक है। मूल सृष्टि द्वयात्मक है और जीव सृष्टि को त्रयात्मक माना गया है। आगे चलकर ससज्ञ सृष्टि अथवा जीव सृष्टि भी तीन भागो मे विभक्त है। ये हैं कृमि-कीट, पशु-पक्षी एव मनुष्य। इसके निर्माण की वैज्ञानिक प्रक्रिया शतपथ ब्राह्मण म बताई गई है।

पार्थिव वैश्वानराग्नि को योनिस्वरूप माना गया है। सवज्ञ रूप और प्राण प्रजापति को रेतोधा माना गया है। यह द्यु रूप प्रजापति माता

रूप वैश्वानराग्नि मे अथवा पृथ्वी मे रेत सिञ्चन करता है। इससे एक नया अग्नि कुमाराग्नि उत्पन्न होता है, जो आगे आठ प्रकार की चित्राग्निया मे परिणत हो जाता है। चित्राग्नि हो वकारिक अवस्था मे पच पशुओ का रूप धारण करता है ये पच पशु हैं पुरुष, अश्व, गौ, अवि और अजा। इसी पश्वाग्नि से प्रजा सृष्टि होती है। प्रजापति ही पशुपति है। प्रजा पशु है और सन्तान सूत्र पाश है।

यह पार्थिव वैश्वानर मे आहुत, प्रजापत्य रेत मे सौर प्राण का अश अल्प मात्रा मे रहता है तो इससे अथ प्रधान धातु सृष्टि उत्पन्न होती है। यदि सौर तेज की मात्रा कुछ बढ जाती है तो मूल सृष्टि पैदा होती है। धातु सृष्टि का कठोर भाग सोम के सयोग से बनता है, क्योकि सोम सकोच धर्मा है। मूल सृष्टि को मूल इस लिए कहा गया है कि यह ऊर्ध्वगामी होने पर भी इसका मूल भूपिण्ड मे गडा रहता है। धातु सृष्टि अचेतन है फिर भी उसे एकात्मक इसलिए कहा गया है कि उसमे परिवर्तन होता रहता है। वह अपने आप मे क्रियाशील है पाषाण के लिए कहा गया है श्रणोत ग्रावाण। औषधि के लिए कहा गया गया है औषधे त्रायस्व। अर्थात हे पाषाणो। हमारी विनती सुनो। हे! औषधियो हमारा त्राण करो।

समग्र सृष्टि जीव सृष्टि है। इस सृष्टि मे वैश्वानर हिरण्यगर्भ और सर्वज्ञ के ही प्रवग्य तत्व वैश्वानर, तेजस और प्राज्ञ तीनो विद्यमान है। दूसरे यह सृष्टि अर्थ, क्रिया, ज्ञान तीनो तत्वो से युक्त है। इसी से इसको त्रयात्मक कहा गया है। प्रसगवश यहा यह भी उल्लेख कर दिया जाए कि जीव सृष्टि ही पाद सृष्टि है। मूल सृष्टि मे पाद चरण नही होते। वह स्वय पादप है अत वह अपाद सृष्टि है। जीव सृष्टि पाद सृष्टि है और इससे ऊपर देव सृष्टि फिर अपाद है। इसके भी चरण नही होते।

जीव सृष्टि के तीन भेद है आप्या, वायव्या और सौम्या। जल मे रहने वाले मत्स्य, मकर, ककटादि जीव आप्या है। ये बिना पानी के नही रह सकते। कृमि, कीट, पशु, पक्षी, मनुष्य ये पाचो प्राणी वायव्य है। ये वायु के बिना नही रह सकते। चन्द्रमा मे रहने वाले आठ प्रकार के अपाद देवता प्राण रूप सौम्य है।

सौर प्राण की मात्रा ज्यो-ज्यो बढती जाती है त्यो त्यो जीव सृष्टि का विकास होता रहता है। सबमे कम मात्रा कृमि वर्ग मे होती है। कृमि

यद्यपि धरती पर रगते हैं, परन्तु धरती को छोड नही जा सकते जैसे लटें। सौर प्राण की मात्रा तनिक फिर बढती है तो कीट सृष्टि पैदा होती है। सप इस श्रेणी मे रखे जा सकते है। इस सृष्टि मे पेर भीतर की और रहत है। ये भी रगते हुए चलते है। इनमे कृमि की अपेक्षा बल अधिक है।

इनकी गति भी अधिक होती है। सौर प्राण तनिक और बढ जाने पर सहस्रपाद जीव उत्पन्न हो जाते है जो उठ तो नही सकते परन्तु अपने काटे नुमा पैरो के बल पर ही धरती पर टिके रहते हैं। इनके सम्पूर्ण शरीर पर काटेनुमा पैर होते है। इसके उपरा त शतपाद कीट आते हैं। फिर 72, 16,8 पैर वाले कीट उत्पन्न हात हैं। ऊणनाभ (मकडी) के आठ पैर होते ह, मक्षिक, भ्रमर आदि भी अष्ट पाद होते हैं, पर तु उनके दो पर उडने के काम मे आने है। मसृण (मक्कौडा) पिपीलिका (चीटी) आदि षष्ट पाद हाते है। इनके दो पैर पुच्छ भाग मे, दो उदर भाग म और दो मुख भाग म होने है। इनसे भी आगे चतुष्पाद कीट उत्पन्न हो जाते ह।

पशु सृष्टि मे आधा भाग पार्थिव एव आधा सौर प्राण होना है। ये समरूप खड हात ९। मस्तक से हृदय पयन्त इनमे सौर प्राण रहता है और हृदय से मूलद्वार तक पार्थिव अपान प्राण रहता है। दानो तत्वो की समानता के कारण इनका मूल द्वार और मुख एक सीध मे हाता है। सौर तेज अधिक मात्रा मे आने पर पशु के बाद पक्षी उत्पन्न हाते ह। यह तियक सृष्टि कहलाती है। इनके मस्तक ऊपर तो हाते है, पर तु प्राय तिरछे होते ह। पशु के चार-पैरो के बजाय पक्षी के दो पैर पखो का रूप धारण कर लेते हैं और दो पैर धरती पर बने रहते है।

सौर प्राण के पूण विकास पर मनुष्य प्राणी पदा होता है। मस्तक एकदम सीधा हो जाता है। पशु प्राणी क दो पर ही मनुष्य प्राणी म हाथ बन जाते हैं। मनुष्य और पशु के बाच एक अ य प्राणी अद्ध मनुष्य या वानर है। इनमे दानो लक्षण है। वानर शब्द भी वकल्पिक मनुष्य (वा+नर) के रूप मे प्रयुक्त हुआ है। यह मनुष्य की भाति बठना है। हाथ से खाता है पर तु पशु की तरह परो से चलता है। डार्विन न इसी लिए इसको मनुष्य के विकास का आधार माना है। इस सिद्धान्त को पश्चिम के भी कतिपय विद्वानो ने अस्वीकृत कर दिया है। वेद सम्मत ता कदापि नही है। वेद विज्ञान के अनुसार यह सृष्टि पूणत मर्यादित

है। प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति मे एक विशिष्ट कारण काय सम्बन्ध का निर्वाह है।

इस विज्ञान के अनुसार सृष्टि से प्राणियो की कुल 84 लाख योनिया है और सभी का स्वतन्त्र उद्भव है। कोई एक योनि दूसरी योनि से विकसित नही है यदि ऐसा होता तो पूर्व योनि समाप्त ही हो जाती जिस प्रकार फल बनने के बाद कली का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इसी तरह वानर मे मनुष्य योनि यदि विकसित होती तो वानर भी समाप्त हो जाते। इस सिद्धात का एक प्रतिफल यह भी होता कि कितनी ही योनिया एक दूसरे से बनती। वानर और मनुष्य के बीच तो एक मौलिक भेद यह भी है कि मानव सृष्टि मे नालच्छेद होता है, परन्तु वानर मे ऐसा नही होता।

वेद विज्ञान ने जो 84 लाख योनियो का विधान किया है वह भी महत्तत्त्व के व्यवहार के आधार पर किया है। श्राद्ध विज्ञान के प्रसग मे यह बतलाया जा चुका है कि जीव की रचना मे 28 घनात्मक और 56 ऋणात्मक पिण्डो का योग होता है और इनका कुल योग 84 ही व्यूहन क्रिया के आधार पर 84 लाख योनियो मे परिणत होता है। व्यूहन की यह क्रिया जीव के मूल उपादान महत् के व्यापार पर निर्भर करती है। महत् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मे व्याप्त मौलिक तत्व है जो प्रत्येक जीव मे अहकृति का निर्माण करता है, उसे व्यक्तित्व प्रदान करता है।

ईश्वर-जीव समन्वय

जैसा कि लोक प्रसिद्ध है, जो पिण्ड मे है वही ब्रह्माण्ड मे है। यह लोक धारणा वेद के सुनिश्चित विज्ञान पर आधारित है। जीव को वेद ईश्वर का ही अश माना है। ईश्वर और जीव के बीच अशी और अश का सम्बन्ध है। ईश्वर की हो प्रतिकृति जीव है। वेद मे दश्वानर को पुरुष अर्थात् ईश्वर के समकक्ष माना है। इसी से उत्पन्न वैश्वानर विराट् वैश्वानर हिरण्यगभ और वैश्वानर सवज्ञ नामक तीन तत्वो की समष्टि ईश्वर है न कि चार भजा, तोन नेत्र या चार मुख वाली कोई मूर्ति। वेद का ईश्वर वह ईश्वर नही है जिसे फरिश्ते एक सिहासन पर अधर उठाये हुए हो। वेद का ईश्वर काई पुस्तकवद्ध निर्देशिका भी नही है और न ही वह विधि-निषेध नियमो का सघात मात्र है। वेद मे प्रतिपादित ईश्वर एक सुस्पष्ट वैज्ञानिक सत्ता है और वह है वैश्वानर हिरण्यगभ और सवज्ञ नाम से प्रतिपादित तीनो तत्वा की समष्टि। इन्ही तीनो के प्रवग्य स्वरूप तीन तत्व ह, वैश्वानर, तेजस और प्राज्ञ इन तीनो की समष्टि ही जीव है। जिस जीव मे प्राज्ञ तत्व का अथवा सौरतत्व का अत्यधिक विकास हुआ है वही मनुष्य प्राणी है। मनुष्य मे वही सब तत्व है, कलाए हे जो ईश्वर मे है। अन्तर यही ह कि जीव पापात्माओ से आवत हो जाने के कारण ईश्वर से पृथक हो जाता है। इन पापात्माओ स मुक्त होते ही वह ईश्वर कोटि मे प्रविष्ट हो जाता हे।

अब ईश्वर सस्था पर विचार कर। ईश्वर मे तीन त्रलोक्य माने गये ह। पे त्रिलाकिया रादसी और सयती नाम से विदित ह। त्रिलाकिया मे सात भुवन बनते है, रोदसी त्रिलोकी पार्थिव है जो पृथ्वी से लेकर सूय तक विस्तृत है। यही भू भुव स्व नाम से तीन अक्षर है। भू मे ण्ड ह। भुव म अन्तरिक्ष है स्व को स्वर्लोक अर्थात् सूय लोक कहा

गया है। सूय को आधार मानकर अ दमी त्रिलोकी वनती है जो परमेष्ठि लोक तक व्याप्त है। इसके मध्य मे मह नामक भुवन है, जो सूय और परमेष्ठी के बीच का आकाश है। परमेष्ठी जन लोक है। जन अर्थात् परमेष्ठी को आधार बना कर सयती त्रिलोकी वनती है जा सत्यम् तक वितत है। इसके वीच मे तप लोक है। इन्ही तीन त्रिलोकियो मे सात भुवन हैं।

अव तनिक जीव सस्था मानव शरीर पर दृष्टिपात कीजिए। ईश्वर सस्था मे जा सात भुवन हैं वे ही सप्तभुवन तीन त्रिलोकियो सहित मानव शरीर मे है। मानव शरीर मे पैर से हृदय स्थल तक रादसी त्रिलोकी है। हृदय से तालु-मूल तक क्रन्दसी त्रिलाकी है और तालुमूल से ब्रह्मरध्र तक सयती त्रिलोकी है। तालु मूल से ब्रह्मस्तन (कागली) परमेष्ठी का रूप है। हृदयस्थल सूय का स्थान है। यह भी हृदय स्थित चन्द्र स्थान पर प्रतिष्ठित है।

हमारे शरीर मे पैर से हृदयस्थल तक रोदसी त्रिलोकी मे [मूल ग्रन्थि या वस्तिगुहा] पृथ्वी का स्थान है। वस्ति गुहा से नीचे चरणो तक पार्थिव प्राणो की सत्ता है। यही मही पृथ्वी है। चरणो से घुटनो तक भूपिण्ड है और घुटनो से जधा मूल तक अतरिक्ष है। जघामूल से नाभि तक सूय स्थल है। ये तीन भुवन भू भुव और स्व हैं। पृथ्वी मे ये तीनो ही समाये हुए है। यहा यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि पृथ्वी का अथ यहा भू पिण्ड ही नही है बल्कि भूपिण्ड का प्रथित मण्डल है जा सूय तक वितत है। यह पृथ्वी लोक है जिसमे पार्थिव त्रिलोकी है। हृदय स तालु मूल पयन्त क्रन्दसी त्रिलाकी मे हृदय स्थल इस त्रिलाकी का भू है, दोनो के वाच का प्रादेश इस त्रिलाकी का अतरिक्ष और तालु मूल इसका स्वर्लाक है। तालु मूल से ब्रह्मरध्र तक सयती त्रिलाकी मे तालु मूल भू वन जाता है, शिरोगुहा उसका अतरिक्ष अथवा भुव लाक है और ब्रह्म रध्र इसका स्वर्लोक बना हुआ है। इसी तरह सातो भुवन हमारे शरीर मे है।

अव इसी शरीर और इन्ही सात भुवनो मे वैश्वानर तेजस और प्राज्ञ का व्यवहार देखे। वस्ति गुहा अथवा भ्रम ग्रन्थि वश्वानर की प्रतिष्ठा है। नाभि और वस्तिगुहा के वीच तेजस तत्व है और नाभि मे प्राज्ञ प्रतिष्ठित है।

नाभि से ऊपर हृदय स्थलके अधोभाग में चन्द्रमा स्वय हृदय स्थल म सूय एव तालस्थल मे महत तत्व की प्रतिष्टा ह। ब्रह्म रन्ध्र स्वय भू अथान सत्य का स्थान है। भू, भुव, स्व, मह, जन, तप और सत्यम् ये सात अक्षर सात भुवना के ही वाचक ह। इ ह व्याहृतिया कहा जाता ह। इह गायत्री मन्त्र के साथ कदाचित इसलिए भी बोला जाता ह कि हमारा शरीर गायत्राग्नि की समष्टि है और ये व्याहृतिया सात भुवनो की वाचक है। इससे अध्यात्म और अधिभूत का समन्वय होता ह।

ईश्वर और मनुष्य जीव का माप भी समान ही है। ईश्वर शरीर को शास्त्रा मे सात वितस्ता काम कहा गया ह। वितस्ता का अथ बालिश्त हैं तीनों निराक्रियो मे वितत गायत्री के जो सात अक्षर भू, भुव, स्व मह जन तप और सत्यम् है, वह प्रत्येक ईश्वर शरीर की एक वितस्ता है। इसका परिमाण बारह अगुल का बताया गया है। ईश्वर की कुल लम्बाई वितस्ता परिणाम से सप्तवितस्ता है और अगुलि परिमाण से 84 अगुल है। यही माप हमारे शरीर का है। चरण मूल मे ब्रह्म रध्र तक विद्यमान सात भुवन मिलकर कुल 84 अगुल बनते है। वेद विज्ञान की स्थापना है कि प्रत्येक मनुष्य की अपने शरीर की लम्बाई उसकी 84 अगुलियों के बराबर होती है। शिशु की अगुलियो से भी उसके शरीर की लम्बाई 84 अगुल ही होती ह। इस सिद्धान्त की सहज ही परीक्षा की जाती हे।

एक और भेद इस परिमाण मे किया गया ह। जहा ईश्वर का त्रिलम्ना परिमाण से नापा गया है। वहा मानव शरीर का प्रादेशो मे विभक्त किया गया है। प्रादेश का नाप साढे दस अगुलक है। प्रादेश उस माप को कहा गया है जो अगुष्ठ और तजनो अगुलि के फैलाने से बनता है। वितस्ता वह नाम है जो अगुष्ट और कनिष्ठिका के फलाने से बनता है। वितस्ता 12 अगुल की ह और प्रादेश साढे दस अगुलक का। ईश्वर शरीर सप्त वितस्ता कहा गया है और मानव शरीर अष्ट प्रादेशात्मक है। अगतिन परिमाण मे दाना समान है। मानव शरीर की रचना गायत्राग्नि की चिति मे हुई है। गायत्री का प्रत्येक अक्षर एक प्राण है। अष्ट प्राण समष्टि ही गायत्राग्नि है। श्रुति प्रमाण है "प्रादेश मितो वै प्राण" [कौपीतकीय ब्राह्मण]

हमारे शास्त्रकारो ने मानव शरीर मे विज्ञान का पूण विकास माना है और उसका स्पष्ट विवेचन भी किया है। इस शरीर को आगे चार गुहाओ मे विभक्त किया गया है। ये है शिरोगुहा, उरोगुहा, उदर गुहा, और वास्तिगुहा। ब्रह्मरन्ध्र से कण्ठ तक शिरोगुहा, कण्ठ से हृदय पयन्त उरो गुहा, हृदय से नाभि पयन्त उदर गुहा और नाभि से मूल ग्रथि तक वास्ति गुहा, शिरागुहा मे विज्ञानात्मा, उरो गुहा मे प्राणात्मा, उदर गुहा मे व्यानात्मा और वास्तिगुहा मे अपानात्मा की प्रतिष्ठा है। इन चारा गुहाओ मे आत्मा उक्थ [बिम्ब] रूप मे रहता है और उसमे अक [रश्मिया] निकल कर एक तत्र का निर्माण करते है। प्रत्येक उक्थ के साथ अक निकलते ह। उक्थ इस तत्र का तत्रायी हाता है।

जिस प्रकार चिकित्सा विज्ञान मे ई एन टी का एक शारीरिक विभाग माना गया है, उसी प्रकार वेद विज्ञान ने शरीर के चार सप्तक निरूपित किये है। प्रत्येक गुहा मे सात सात अग हैं। शिरोगुहा मे दो कान, दो नत्र, दो नासा और एक मुख ह। ये हा आध्यात्मिक [शारीरिक सप्तर्षि] भी कहलाते हैं ये इन्हे सप्तशीपण्य प्राणा कहा गया है। इनका नियत्रण ब्रह्म रध्र से है। शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है "अर्वाग् बिलश्चमस ऊध्व बुधनस्तस्यासत ऋषय सप्त तीरे"

दूसरो उरा गुहा मे दो हस्त, स्तन, दा फुफ्फुस और एक हृदय है। तीसरो उदर गुहा मे कृत, प्लाहा, दो वृक्क दा क्लाम और एक नाभि है। चौथी वस्ति गुहा मे दा श्रोणी, दा अण्ड, एक मूल नलिका, एक शुक्र नलिका और मूलद्वार है। प माती लाल शास्त्री ने शतपथ विज्ञान भाष्य मे लिखा है कि मनुष्य योनि मे इन चार सप्तका का विधान इस प्रकार किया गया है कि सौर प्राणो के समावेश के साथ ही अगो के विकास का तारतम्य ह। वतमान मे सौर प्राण शिरोगुहा मे अत्यधिक केन्द्रित है अत सम्पूण ज्ञानेन्द्रिया इसी गुहा तक सीमित है। सौर प्राण की गति ब्राह्म अहोरात्र की गति पर निभर करती है। सृष्टि सवत्सर के आधार पर ब्राह्म अहोरात्र का अभी पूण मध्यान्ह नहीं हुआ है। हमारे काल माप के अनुसार अभी ब्रह्म के अहोरात्र मे दिन के साढे ग्यारह बजे है। इसका अथ हुआ कि ब्रह्म अहारात्र का मध्याह्न हाने मे अभी दो युग से अधिक का समय है। तब तक सार प्राण का विकास मानव शरीर के अन्य भागो मे होता जाएगा। तब तक उरो गुहा मे स्तनो के

स्थान पर चक्षु प्रकट हो जाए। सातवें मन्वन्तर की समाप्ति तक यह सभव होगा। इसके बाद आठवें मन्वन्तर से पुन ह्रास प्रारम्भ हो जाएगा। वर्तमान मे भी शिरोगुहा से और प्राणो का सचार अन्य तीन गुहाओ मे होता है, परन्तु पार्थिव तत्व के आधिक्य के कारण वे तिरोहित हो जाते है। गौण रूप से वे सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त है।

ईश्वर-जीव-समन्वय प्रकरण उपरत हुआ। अब प्रसगवश वैश्वानर के प्राण व्यापार पर सक्षेप मे चर्चा कर लेना तनिक असगत होते हुए भी उपयोगी होगा। यह वैश्वानर वकारिक भाव से युक्त ताप धर्मा (अग्नि है जो अग्नि, वायु, आदित्य नाम की मौलिक अग्नियो के सघर्ष से उत्पन्न होता है और केश लोम नखो के अतिरिक्त सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त रहता है। यह तीन रूपो मे व्याप्त रहता है।

वैश्वानर का पार्थिव भाग अपान रूप से शरीर मे सचारित होता है, आतरिक्ष्य भाग व्यान रूप मे और दिव्य भाग प्राण रूप मे सचार करता है। अपान प्राण का निवास ब्रह्म ग्रन्थि या वस्तु गुहा है। यही अपान प्राण जब मूल स्थान से ऊपर उठता है तो समान कहलाने लगता है, परन्तु मध्यस्थित व्यान से टकराकर पुन अपान रूप मे लौट आता है। उधर दिव्य प्राण ब्रह्मरध्र से व्यान की ओर आते हुए पार्थिव प्राण के उत्कर्ष के कारण उदान रूप मे परिणत होकर पुन लौट जाता है। व्यान अविचल प्राण है। अपान और प्राण विचाली हैं। व्यान के साथ दोनो का शिलासिल सबध है जिसे वैज्ञानिक भाषा मे उपाशु सवन-अन्तर्याम सबध कहा गया है। जिस तरह स्थिर शिला पर लोढी ऊपर नीचे चलती रहती है, उसी प्रकार व्यान शिला पर अपान-प्राण व्यापार होता रहता है। निगच्छत-आगच्छन् प्राणापान की इसी अवस्था का नाम प्राणदपानत् है।

प्राणाग्निमयी सार रश्मियो मे आप जो ताप देखते है, वह इसी प्राणद अपानत व्यापार की महिमा है, यजुर्वेद मे कहा है "अस्य प्राणा-दपानती।" शरीर मे वैश्वानर की उत्पत्ति इसी प्राणादपानत व्यापार से होती है। इसकी प्रतिष्ठा व्यान है। ... ण मे ... है कि
जब तक माता तब तक आगा ... ... है।
हमारा जीवन श्वास-निश्वास मे
... सा के निवामक व्यान प्राण के

की नलिका में फूंक देने से वह केवल चूल्हा जलाने के काम आ सकती है, संगीत प्रस्फुटित नहीं करती, परन्तु बांस की नलिका में एक तोलो और छिद्र कर देने से वह स्वर का नियमन करने लगती हैं। विश्व विमोहन संगीत फूट पड़ता है। शरीर रूपी तन्त्र में यह भूमिका व्यान की है। व्यान के उच्छिन्न होते ही शरीर का ताप भी उच्छिन्न हो जाता है और श्वास-निश्वास भी रुद्ध हो जाते हैं। जब तक व्यान है तभी तक प्राणादपानान् व्यापार है। जब तक प्राणादपानात् व्यापार अर्थात् अपान-प्राण का संघर्ष है तभी तक वैश्वानर का ताप है। जो अधिदेव में है वही अध्यात्म में है। इसके समाप्त होते ही जीवन लीला समाप्त हो जाती है।

अन्त में वैश्वानर का एक और रूप प्रस्तुत कर देना चाहूंगा। वैश्वानर ही नाद, स्वर या ध्वनि का उत्पादक है। शरीर में व्याप्त जल में वैश्वानर के ताप से जो ध्वनि उत्पन्न होती है वही अनाहतनाद है। ब्रह्माण्ड में मौलिक जल और मौलिक अग्नि की व्याप्ति से अनाहतनाद चलता रहता है जिसे योगी सुन भी सकते हैं। प्रगट होने पर वही स्वर बन जाता है।

--●--

स्थान पर चक्षु प्रकट हो जाए। सातवें मन्वन्तर की समाप्ति तक यह सभव होगा। इसके बाद आठवे मन्वन्तर से पुन ह्रास प्रारम्भ हो जाएगा। वर्तमान मे भी शिरोगुहा से और प्राणो का सचार अन्य तीन गुहाओ म होता है, परन्तु पार्थिव तत्व के आधिक्य के कारण वे तिरोहित हो जाते है। गौण रूप से वे सम्पूण शरीर मे व्याप्त है।

ईश्वर-जीव-समन्वय प्रकरण उपरत हुआ। अब प्रसगवश वैश्वानर क प्राण व्यापार पर सक्षेप म चर्चा कर लेना तनिक असगत होते हुए भी उपयोगी होगा। यह वैश्वानर वैकारिक भाव से युक्त ताप धर्मा अग्नि है जो अग्नि, वायु, आदित्य नाम की मौलिक अग्नियो के सघर्ष मे उत्पन्न होता है और केश लोम नखो के अतिरिक्त सम्पूण शरीर मे व्याप्त रहता है। यह तीन रूपो मे व्याप्त रहता है।

वैश्वानर का पार्थिव भाग अपान रूप से शरीर मे सचारित होता है, आतरिक्ष्य भाग व्यान रूप मे और दिव्य भाग प्राण रूप मे सचार करता है। अपान प्राण का निवास ब्रह्म ग्रन्थि या वस्तु गुहा है। यही अपान प्राण जब मूल स्थान से ऊपर उठता है तो समान कहलाने लगता है, परन्त मध्यस्थित व्यान से टकराकर पुन अपान रूप मे लौट आता है। उधर दिव्य प्राण ब्रह्मरन्ध्र से व्यान की ओर आते हुए पार्थिव प्राण के उत्कर्ष के कारण उदान रूप मे परिणत होकर पुन लौट जाता है। व्यान अविचल प्राण है। अपान और प्राण विचाली हैं। व्यान के साथ दोनो का शिलासिल सबध है जिस वैज्ञानिक भाषा मे उपाशु सवन-अन्तर्याम सबध कहा गया है। जिस तरह स्थिर शिला पर लोढी ऊपर नीचे चलती रहती है, उसी प्रकार व्यान शिला पर अपान-प्राण व्यापार होता रहता है। निगच्छत-आगच्छत प्राणापान की इसी अवस्था का नाम प्राणदपानत् है।

प्राणाग्निमयी सौर रश्मियो मे आप जो ताप देखते है, वह इसी प्राणद अपानत व्यापार की महिमा है, यजुर्वेद मे कहा है "अस्य प्राणादपानती।" शरीर मे वैश्वानर की उत्पत्ति इसी प्राणादपानत व्यापार स होती है। इसकी प्रतिष्ठा व्यान है। जन साधारण मे यह धारणा है कि जब तक सासा तब तक आसा परन्तु वैज्ञानिक तथ्य यह नही है। हमारा जीवन श्वास-निश्वास से नही चलता वल्कि श्वास-निश्वास-विश्वास के नियामक व्यान प्राण के आधार पर चलता है। जैसे ब स

की नलिका में फूंक देने से वह केवल चूल्हा जलाने के काम आ सकती है, संगीत प्रस्फुटित नहीं करती, परन्तु बांस की नलिका में एक ताल और छिद्र कर देने से वह स्वर का नियमन करने लगती है। विश्व विमोहन संगीत फूट पड़ता है। शरीर रूपी तन्त्र में यह भूमिका व्यान की है। व्यान के उच्छिन्न होने से शरीर का ताप भी उद्गिन हो जाता है और श्वास-निश्वास भी रुद्ध हो जाते हैं। जब तक व्यान है तभी तक प्राणादपानात् व्यापार है। जब तक प्राणादपानात् व्यापार अर्थात अपान-प्राण का संघर्ष है तभी तक वैश्वानर का ताप है। जो अधि देव में है वही अध्यात्म में है। इसके समाप्त होते ही जीवन लीला समाप्त हो जाती है।

अन्त में वैश्वानर का एक और रूप प्रस्तुत कर देना चाहूंगा। वैश्वानर ही नाद, स्वर या ध्वनि का उत्पादक है। शरीर में व्याप्त जल में वैश्वानर के ताप से जो ध्वनि उत्पन्न होती है वही अनाहतनाद है। ब्रह्माण्ड में मौलिक जल और मौलिक अग्नि की व्याप्ति से अनाहतनाद चलता रहता है जिसे योगी सुन भी सकते हैं। प्रगट होने पर वही स्वर बन जाता है।

–●–

योषा-वृषा विवेचन

वैदिक विज्ञान की व्यापक परिभाषा मे पुरुष शब्द मे पुरुष और स्त्री दोनो का अन्तर्भाव हो जाता है। पुरुष को लिंग भेद का प्रतीक न मानकर एक तत्व के रूप मे माना गया है परन्तु प्रजोत्पत्ति के प्रसग मे पुरुष और स्त्री दो भिन्न इकाइया बन जाती हैं और दोनो ही परस्पर पूरक है।

साथ ही वेद मे प्रजोत्पत्ति को यज्ञ की सज्ञा दी गई है। पूर्व मे अन्न-यज्ञ का उल्लेख इसी स्तम्भ मे किया जा चुका है। भोजन का अन्न यज्ञ इसलिए बताया गया है कि जठराग्नि मे अन्न की आहुति होने से शरीर मे सप्त धातुओ का निर्माण होता है और इसी से ओज एव मन की रचना होती है। वेद विज्ञान मे यज्ञ का सही स्वरूप बताया गया है। एक से अधिक विजातीय पदार्थो एव तत्वो के रासायनिक यजन अथवा मिश्रण से जो नया रूप या भाव उत्पन्न होता है वही यज्ञ का स्वरूप है। इसी क्रम मे प्रजोत्पत्ति को भी यज्ञ की सज्ञा दी जाती हैं। सवत्सर मडल मे जो सृष्टि का क्रम बना हुआ है उसे यज्ञ ही कहा गया है और वैध यज्ञ (मानवकृत यज्ञ) का आधि दैविक यज्ञ की प्रतिकृति ही माना गया है, क्योकि जो कुछ अधि दैव मे घटित हो रहा है वही अध्यात्म (शरीर) मे घटित हो रहा है।

वैध यज्ञ की अन्य प्रक्रियाओ मे अपाप्रणयन एव अपासादन क्रियाए भी सम्पन्न की जाती हैं। यज्ञवेदियो के पास उत्तर-दिशा मे जल कलश का धारी ... रखने की मन्त्र पूतविधि हो इन दोना ... का स्वरूप ... । इसका ... अग्नि का अप् (जल) के साथ प्रणयन ... । मन्त्रपूत जल ... गार्हपत्य और आहवनीय के साथ मन्त्र से जोडना ... भाव उत्पन्न करना है। गार्हपत्य पार्थिव अग्नि से युक्त नदी है

और आहवनीय दिव्याग्नि से युक्त वेदी कहलाती है। इनकी रचना दिव्यात्मा उत्पन्न करने के लिए की जाती है। इसी प्रयोजन से मन्त्रोच्चार किया जाता है। निश्चय ही इस क्रिया में मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। अग्नि के रुद्र रूप को जल के सामीप्य से शिवरूप में परिणत किया जाता है। इस क्रिया का स्वरूप इतना विशद है कि जल कलश का आहवनीय के पास रखने की दूरी भी नियमित की जाती है। मन्त्रपूत जल कलश कितना दूर रखा जाय, यह निश्चित किया जाता है। यह भी कहा गया है कि जल कलश की स्थापना के बाद यज्ञ वेदी और कलश के बीच किसी को जाना नहीं चाहिए अन्यथा अपाप्रणयन अथवा अप और अग्नि का मिथुन भाव नष्ट हो जायगा अर्थात् यज्ञ ही नष्ट हो जायगा।

वेद विज्ञान के अनुसार यह जगत् अग्नि सोम मय है। अग्नि और सोम के यजन से ही सृष्टि होती है। यही सिद्धान्त प्रजोत्पत्ति पर लागू होता है। इस विज्ञान के अनुसार पुरुष को अग्नि का और स्त्री को सोम का प्रतीक माना गया है। शरीर में भी उसके दक्षिण भाग को आग्नेय और वाम भाग को सोम माना गया है। स्त्री के लिए वामा शब्द के प्रयोग का यही आधार है। दक्षिण भाग अपेक्षाकृत कठोर होता है, यह हम प्रत्यक्ष भी जानते हैं। जिस प्रकार संवत्सर में अग्नि और सोम को सृष्टि का उत्पादक तत्व माना गया है उसी प्रकार मानव (स्त्री-पुरुष) शरीर में योपा-वृषा नामक दो तत्वों को सन्तान का उत्पादक माना गया है। स्त्री और पुरुष शरीरों को इन तत्वों का वाहक माना गया। और मिथुन क्रिया के द्वारा इन्हीं दो तत्वों का यजन होता है जो सन्तान के रूप में फलित होता है।

यहां यह स्पष्ट कर देना अत्यावश्यक है कि सन्तान का कारण स्त्री और पुरुष का मिथुन कर्म मात्र नहीं है बल्कि योपा और वृषा का सम्बन्ध है जैसा कि अपाप्रणयन क्रिया में अप् और अग्नि का सम्बन्ध है। यदि योपा और वृषा प्राणों का मेल न हो अथवा दोनों में से एक प्राण का हनन हो जाय तो कितना ही शरीर-सम्बन्ध स्थापित किया जाय प्रजोत्पत्ति नहीं हो सकती। जिन स्त्री पुरुष युग्म को सन्तान की प्राप्ति नहीं होती, उन्हें इस पक्ष को ध्यान में रखना होगा। यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यदि योपा-वृषा तत्वों का मेल करा दिया जाय तो शारीरिक मिथुन के बिना भी प्रजोत्पत्ति हो सकती है। टेस्टट्यूब से

सन्तान पैदा करने की क्रिया वेद-विज्ञान की दृष्टि मे नई नहीं है और पूर्णत विकसित भी अभी नही है। त्रिशकु की सहायता से विश्वामित्र ने नई सृष्टि रचने का जो उदघोष किया था वह इसी विज्ञान पर आधारित है। सूर्य और पृथ्वी के बीच का जो अन्तराल है उसमे योषा वषा दोनो प्राणो की व्याप्ति प्रभूत मात्रा मे है। आप उसे जान सकें तो आप भी नई सृष्टि की रचना कर सकते हैं।

हनुमान का प्रसग हमारे सामने है कि उनके पसीने से मकरध्वज उत्पन्न हुआ था। यह प्रसग हम बुद्धिवादी आधुनिक जन कपालकल्पित मान सकते हैं परन्तु इसके समानान्तर कितने ही उदाहरण जीव सृष्टि मे हैं जिनमे यह प्रमाणित होता है कि शारीरिक मिथुन के बिना भी जीव सृष्टि उत्पन्न हो सकती है।

कदाचिद् आपने देखा हो आकाश मे कपोत के आकार से तनिक बडा एक पक्षी पक्ति बाधकर सौ-पचास के झुण्ड मे उडता है। इसे बलाका पक्षी कहते हैं और यह मुख्यत जल मे निवास करता है। इसका कण्ठ कमल नाल के समान पतला होता है। इस पक्षी मे वृषा प्राण प्रचुर मात्रा मे विद्यमान रहता है। इसके नेत्रो से जो अश्रु टपकते है उन्हे जब मादा पी जाती है तो उसी से गर्भाधान हो जाता है। हरे और नील रग का एक विषैला कीडा मकडी के बच्चे को पकडकर मिट्टी के एक विवर मे बन्द कर देता है। वह विषैला कीडा उस विवर पर बैठा करता है। कालान्तर मे मकडी का बच्चा अपना रूप बदल कर विषैला कीडा बन जाता है। गोबर मे आप दही और केले का रस डाल दें और कुछ समय बाद प्रकृति की लीला देखिये, वह क्या रग दिखाती है। वर्षा ऋतु मे हम देखते हैं सडको पर या घरो मे बिजली के लट्टुओ पर लाखो-करोडो कीडे मडराने लगते है। यह सब अमैथुनिक जीव सृष्टि ही है जो योषा वषा प्राणो के व्यापार से होती रहती है। इस प्रकृति की लीलाओ के रहस्य को हम न जानकर केवल अपनी सीमित बुद्धि के बल पर कितने ही निष्कर्ष निकाल लेते है। इसका अर्थ यह कदापि नही है कि प्रक्रिया को हम थाम सकते हैं। जब हम आगरे के अजायबघर मे दूध देने वाला बकरा देखते थे और आजकल भी स्त्री शरीर से अमानुष प्रजा की उत्पत्ति के कई उदाहरण देखते हैं तो हमारी आधुनिक बुद्धि क्यो जवाब दे देती है?

वेद विज्ञान मे यज्ञ को इसलिए अधिदेव मे समन्वय स्थापित करने का माध्यम बनाया जिसे आजकल कितने ही महानुभाव व्यामोह मे ग्रस्त होकर पवन शुद्धि और जल वृष्टि जस कर्मो का माध्यम मानते हैं और प्रजा को भ्रमित करते रहते हैं। वास्तव मे यज्ञ तो सृष्टि विज्ञान की प्रयोगशाला है।

योपा वृपा वेद के अनुसार अतीव महत्वपूर्ण प्राण हैं। स्त्री और पुरुष इन प्राणों के वाहक मात्र हैं। इनके व्यवहार का बडा ही विशद विवेचन वेद विशारद प मोतीलाल शास्त्री ने अपने वृहद ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण विज्ञान भाष्य मे किया है।

यद्यपि योपा-वृपा प्राण प्रजोत्पत्ति के मूल तत्व हैं, तथापि मिथुन की अपनी महती भूमिका है। सन्तान मे प्रगट होने वाली भिन्न भिन्न विकृतियो मे स्त्री पुरुष शरीरो की और मनोदशा का अपना-अपना प्रभाव प्रतिफलित होता है। परन्तु उनके निराकरण के भी उपाय बताये गये हैं। इन पर गहन अध्ययन मनन की आवश्यकता है।

उदाहरण के रूप मे पुसवन सस्कार को ही लें। पुसवन वह सस्कार है जिसके द्वारा गर्भ मे भावी सतान का लैंगिक रूप बदला जा सकता है। इसविज्ञान मे यह माना गया है कि नर-नारी शुक्र शोणित मे यदि गर्भाधान के समय शुक्र की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है तो सतान के रूप मे पुत्र उत्पन्न होगा। यदि शोणित की मात्रा अधिक रही तो कन्या उत्पन्न होगी। यदि दोनो की मात्रा समान हुई तो सतान जन्मजात नपुसक होगी। इनकी पहचान भी बताई गई है। गर्भस्थ प्रजा पदार्थ प्रथम मास मे तरल रूप मे रहता है जो तरलावस्था मे तो होता है परन्तु तनिक घनत्व लिए होता है। दूसरे मास मे शीत, ऊष्मा वायु आदि महाभूतो को समष्टि से तरल पिण्डाकार बनने लगता है। यदि पिण्ड गोलाकार होता है, तो वह पुत्र सन्तान का लक्षण है। यदि वह मास पेशी के रूप मे होता है तो कन्या का लक्षण है और नगाडे की आकृति मे होता है तो नपुसक सन्तान उत्पन्न होगी। इस प्रसग मे पुसवन सस्कार की भूमिका सामने आती है। गर्भ की प्रारम्भिक अवस्था मे यदि पुसवन सस्कार के अन्तगत बताई गई वैज्ञानिक प्रक्रिया सम्पन्न कर ली जाय तो भावी सन्तान का लैंगिक रूप निश्चित किया जा सकता है।

योपा-वृषा विज्ञान से कितने ही तथ्यो को जानकारी मिलती है। यज्ञ मे जल कलश को आहवनीय के उत्तर मे रखने का जो विधान है। उसका भी रहस्य यह बताया गया है कि योपा रूप पानी अग्नि के उत्तर म रहना चाहिये अर्थात स्त्री को पुरुष के उत्तर भाग मे अथवा वाम भाग मे सोना चाहिये। जल कलश को तनिक दूर रखने का भी अथ यह है कि सोते समय अग स्पश न रहे परन्तु दूरी भी न रहे। ये इतने सूक्ष्म विषय हैं कि पर्याप्त वैज्ञानिक ज्ञान क अभाव मे इन पर समुचित प्रकाश नही डाला जा सकता, अपितु ग्रहण भी नही किया जा सकता।

भिन्न भिन्न शास्त्रो मे बताया गया है कि काम तत्व की व्याप्ति स्त्री शरीर मे पुरुष शरीर की अपेक्षा आठ गुनी होती है। इसका आधार योपा-वृषा विज्ञान मे यह बताया गया है कि पुरुष शरीर मे काम तत्व शुक्र धातु की उत्पत्ति के साथ ही होता है और शुक्र धातु अन्न-यज्ञ के सप्तम सोपान पर होता है। स्त्री शरीर मे यही तत्व शोणित अर्थात् रुधिर धातु मे ही उत्पन्न हो जाता है और रुधिर की स्थान शारीरिक धातु क्रम में दूसरा ही है। इससे इतना ही कहा जा सकता है की स्त्री शरीर के प्रत्येक धातु मे काम तत्व व्याप्त रहता है। यह उसका प्रातस्विक भाव भी है और समष्टिगत भाव है।

योपा-वृपा प्राणो की शरीर मे व्याप्ति का भी विश्लेषण किया जाता है। तात्विक रूप मे योपा-सोम प्रधान-अर्थात् शीतल एव स्निग्ध पदाथ है और वृपा अग्नि प्रधान है। योपा स्त्री के आतव (शोणित) मे व्याप्त होता है और वृषा पुरुष के शुक्र में। शोणित स्वभावत अग्नि प्रधान है और शुक्र सोम प्रधान है। योपा दृष्टि से स्त्री आर्तव रूप से पुरुष और शुक्र दृष्टि से पुरुष स्त्री है। अग्नि और सोम ही पुरुष और स्त्री भावों के प्रवतक हैं। इसके विपरीत शरीर रचना की दृष्टि से पुरुष अग्नि प्रधान है और स्त्री सौम्या है। निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक शरीर अपने आपसे स्त्री पुरुष दोनो वृत्तियो का आवास है। शरीर से पुरुष पुरुष है परन्तु सप्तम धातु शुक्र की दृष्टि से वह स्त्री है और पुरुष शुक्र मे मूल मे निहित वृषा प्राण की दृष्टि मे पुन पुरुष है। वृषा प्राण का पुंभ्रण भी कहा जाता है। इसी तरह शरीर दृष्टि से जो स्त्री स्त्री है। शोणित दृष्टि से वह पुरुष भावात्मक है परन्तु शोणित में व्याप्त योपा प्राणो की अपेक्षा वह पुन स्त्री है।

योपा वृपा का एक अय स्वरूप हमारे सामने आता है। योपा स्त्री शरीर मे काम तत्व का सृजन करता है और पुरुप शरीर वृपा यही काम तत्व उत्पन्न करता है। शोपित अग्नि स्वरूप है। इसका प्रभव मगल है जो स्वय लाल रग का है और पराक्रमशाली है। मगल मकर राशि पर उच्च का माना जाता है। चूकि स्त्री के रुधिर मे काम तत्व होता है अत स्त्री के काम का मकर ध्वज कहा जाता है। मकर ध्वज नाम सूचित करता है कि अग्नि प्रधान स्त्री रुधिर मे काम आग्नेय प्राण के रूप मे स्थित है। पुरुप शरीर मे काम का आवास शुक्र है। शुक्र सोम ही इसका अधिष्ठाता शुक्र ग्रह है। शुक्र ग्रह से ही शुक्र का निर्माण होता है शुक्र ग्रह का रग श्वेत है। मानव शुक्र धातु भी श्वेत है। शुक्र ग्रह मीन राशि मे उच्च का माना जाता है। इसी से पुरुप के काम को मीन ध्वज कहा जाता ह। स्वभावत मकर ध्वज पुरुप है। चूकि वह स्त्री शरीर मे व्याप्त है अत पुरुप के आकपण का कारण बनता है। इसी तरह साम-युक्त शुक्र स्वभावत स्त्री है, परन्तु वह पुरुप शुक्र मे स्थित है अत स्त्री का आकपण बनता है।

योपा-वृपा विज्ञान का इसी तरह विस्तार होता हो जाता है। इसका सीधा सम्बन्ध प्रजोत्पत्ति स है अत इसका नियमन पूणत वज्ञानिक रूप से यज्ञो के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। यज्ञ और प्रजात्पत्ति धम सम्मत श्रष्ठ कम है। प्रजा पत्ति के अतिरिक्त मिथुन का कोई प्रयोजन वज्ञानिक अथवा धम सम्मत नही है। इस धरातल पर विज्ञान और धम दोनो एक ही बिन्दु पर समन्वित हो जाते है। इसका विवेचन एकाध निबन्धो मे करना सम्भव नही है।

—ॐ—

ही शुक्र–शोणित का मुख्य योग रहता है परन्तु यह भी एक वैज्ञानिक सत्य है कि अत्रि प्राण के बिना शुक्र शोणित मिलकर भी गर्भ का रूप धारण नहीं कर सकते। शोणित में शुक्र आहुत होता है परन्तु वह तभी सम्भव है जबकि शुक्र का धारण करने वाला अत्रि प्राण विद्यमान हो एक अन्य प्राण है जो शोणित में आहुत शुक्र की रक्षा करता है। इसे राक्षस प्राण कहते हैं। इसका निवास भी शोणित में होता है। असुरों के सम्बन्ध में हमारी पौराणिक धारणा अलग तरह की है परन्तु उनका वैज्ञानिक स्वरूप सर्वथा भिन्न है।

उदाहरण के लिए राक्षस, पिशाचादि प्राणों को देखें। राक्षस प्राण की प्रतिष्ठा रुधिर है तो पिशाच प्राण मांस का निर्माण करते हैं। जिस स्त्री के शरीर में राक्षस प्राण शिथिल हो जाता है वह गर्भ धारण करने में असमर्थ हो जाती है। जिस शरीर में पिशाच प्राण क्षीण हो जाता है, वह सूखा रोग से ग्रस्त हो जाता है। इसी प्रकार की भूमिका अत्रि प्राण की है। यह प्राण मुख्यतः स्त्री के रज में होता है जो आगे जाकर जन्माशौच एवं ऋतुकाल शौच का कारण बनता है। जैसा कि बताया गया है अत्रि प्राण स्त्री के शोणित में अन्तर्याम सम्बन्ध से रहता है। दिन प्रतिदिन शोणित के प्रवाह के साथ साथ अत्रि प्राण दग्ध होता रहता है और नियतकाल में प्रतिमास शरीर में बाहर निकलता रहता है। यह रज का प्रवग्र्य, उच्छिष्ट या मृत रूप होता है।

अत्रि प्राण का मूल रूप भी यही है। यह प्राण स्वभावतः ज्योति का अवरोधक है। इसी ज्योति विरोधी स्वभाव के कारण वह शुक्र–शोणित से उत्पन्न चेतन को स्थूल गर्भ का रूप प्रदान करने में समर्थ होता है। यही निरन्तर दग्ध होता हुआ प्रति मास दग्ध रज के रूप में स्त्री शरीर से बाहर निकलता रहता है। इसे रुधिर का मल भी कहा जा सकता है, इसीलिए इसे मलीमस की संज्ञा दी गई है। इसी के कारण स्त्री को प्रति मास चार दिन रजस्वला कहा जाता है। इसी के सम्बन्ध से स्त्री को आत्रि भी कहा जाता है।

चूंकि अत्रि प्राण ज्योति का अवरोधक है, सौर प्राणों का विरोधी है, इससे आक्रान्त स्त्री शरीर को चार दिन अस्पृश्य माना गया है। यह अत्रि प्राण की स्वभावगत वैज्ञानिक आवश्यकता है। अत्रि प्राण के संक्रमण से बचने के लिए ही इस आशौच का प्रादुर्भाव किया गया है।

आशौच-निरूपण

वर्ण व्यवस्था से भी अधिक गूढ विज्ञान आशौच का है। आशौच पर वेद विज्ञान मे अतीव विस्तार से प्रकाश डाला गया है। वेद-विज्ञान का आधार समदशन-विषम वतन है। वतमान मे उपस्थित कितने ही विवादो का आधार तो यह सिद्धान्त ही बना हुआ है। वतमान मे जितने भी राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक सिद्धा त प्रचलित है, उन सबका आधार व्यवहार की समानता है जिससे वेद-विज्ञान का सीधा टकराव हो जाता है। वेद की यह निश्चित मान्यता है कि समानता केवल दृष्टि मे ही सभव है। व्यवहार मे समानता सभव नही। हम जितने भी व्यवहार करते है, वे लौकिक आधार पर होते है।

लौकिक व्यवहार सभी देश, काल और पात्रगत अवस्थाओ की मर्यादा मे होते है, जो कभी समान नही हो सकते है। दृष्टि का सम्बन्ध आत्मा से है, भीतर से है और वही समान हो सकती है। यह पूणत वैज्ञानिक उपपत्ति है। यही वज्ञानिक दृष्टि दुर्भाग्य से आज लुप्त है। प्रकारान्तर मे जिस आशौच की चर्चा की जा रही है उसका सम्बन्ध सृष्टि के, अन्त शरीर रचना के मूलभूत तत्वो से है। सृष्टि की रचना मे दो प्रमुख तत्व अग्नि और सोम का उल्लेख बारबार हुआ है। इन दोना तत्वा का उद्भव परमेष्ठिलोक है। यही सूय का उद्भव है और यही असुर प्राणो का उदभव है। अग्नि और सोम के बीच एक योजक प्राण और है जो इसी परमेष्ठिलोक से उद्भूत है। इस प्राण का महत्व यह है कि अग्नि और सोम के मिश्रण से उत्पन्न नये भाव को पदार्थ स्वरूप प्रदान करता है। इस प्राण को अत्रि प्राण कहते हैं।

हमारे शरीर मे अत्रि प्राण की यही भूमिका है। स्त्री के शाणित मे इस प्राण का अन्तर्याम सम्बन्ध होता है। सन्तान की उत्पत्ति मे निश्चय

ही शुक्र-शोणित का मुख्य योग रहता है परन्तु यह भी एक वैज्ञानिक सत्य है कि अत्रि प्राण के बिना शुक्र शाणित मिलकर भी गभ का रूप धारण नही कर सकते। शोणित मे शुक्र आहुत होता है परन्तु वह तभी सभव है जबकि शुक्र को धारण करने वाला अत्रि प्राण विद्यमान हो एक अन्य प्राण है जो शोणित मे आहुत शुक्र की रक्षा करता है। इसे राक्षस प्राण कहते है। इसका निवास भी शोणित मे होता है। असुरा के सम्बन्ध मे हमारी पौराणिक धारणा अलग तरह की है परन्तु उनका वैज्ञानिक स्वरूप सवथा भिन्न है।

उदाहरण के लिए राक्षस, पिशाचादि प्राणो को देखे। राक्षस प्राण की प्रतिष्ठा रुधिर है तो पिशाच प्राण मास का निर्माण करते है। जिस स्त्री के शरीर मे राक्षस प्राण शिथिल हो जाता है वह गभ धारण करने मे असमथ हा जाती है। जिस शरीर मे पिशाच प्राण क्षीण हो जाता है, वह सूखा रोग से ग्रस्त हा जाता है। इसी प्रकार की भूमिका अत्रि प्राण की है। यह प्राण मुख्यत स्त्रा के रज मे होता है जो आगे जाकर जन्माशौच एव ऋतुकाल शौच का कारण बनता है। जैसा कि बताया गया है अत्रि प्राण स्त्री के शोणित मे अन्तर्याम सम्बन्ध से रहता है। दिन प्रतिदिन शोणित के प्रवाह के साथ साथ अत्रि प्राण दग्ध होता रहता है और नियतकाल मे प्रतिमास शरीर से बाहर निकलता रहता है। यह रज का प्रवग्य, उच्छिष्ट या मृत रूप होता है।

अत्रि प्राण का मूल रूप भी यही है। यह प्राण स्वभावत ज्योति का अवरोधक है। इसी ज्योति विरोधी स्वभाव के कारण वह शुक्र-शोणित से उत्पन्न चेतन को स्थूल गर्भ का रूप प्रदान करने मे समथ होता है। यही निरन्तर दग्ध होता हुआ प्रति मास दग्ध रज के रूप मे स्त्री शरीर से बाहर निकलता रहता है। इसे रुधिर का मल भी कहा जा सकता है, इसीलिए इसे मलीमस की सज्ञा दी गई है। इसी के कारण स्त्री को प्रति मास चार दिन रजस्वला कहा जाता है। इसी के सम्बन्ध से स्त्री को आत्रि भी कहा जाता है।

चू कि अत्रि प्राण ज्योति का अवरोधक है, सौर प्राणो का विरोधी है, इससे आक्रान्त स्त्री शरीर को चार दिन अस्पृश्य माना गया है। यह अत्रि प्राण की स्वभावगत वैज्ञानिक आवश्यकता है। अत्रि प्राण के सक्रमण से बचने के लिए ही इस आशौच का प्रादुर्भाव किया गया है।

इसके तात्विक स्वरूप का न जानकर हम इसे हेय समझने लगे हैं। बहुत लोग इस तात्विक अर्थ को न जानकर इस अशौच की उपेक्षा करते हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि अत्रि प्राण का महत्व एक रज को शरीर रूप देने मे है तो दूसरी ओर वह अशौच भी उत्पन्न करता है। यह भी तथ्य है और वैज्ञानिक तथ्य है कि जिन चार दिनो मे स्त्री शरीर अत्रि प्राण के निगमन से अत्यधिक आक्रान्त हो जाता है, उन दिनो उसकी शारीरिक मानसिक अवस्था शिथिल भी रहती है।

अत्रि प्राण एक अन्य रूप मे भी शरीर मे प्रगट होता है और वह "माता" के रूप मे प्रगट होता है। जिसे हम शीतला माता के रूप म जानते है वह अत्रि प्राण की ही महिमा है। स्त्री रज मे अन्तर्याम सम्बध से प्रविष्ट अत्रि प्राण जब अपत्य (सन्तान) मे भी प्रविष्ट हो जाता है तो वह माता के रूप मे प्रस्फुटित हो जाता है। और कभी कभी घातक भी बन जाता है। इसलिए इसके निरोध और शमन के लिए तरह तरह के उपाय बताये गये है। चूकि अत्रि प्राण स्त्री शरीर मे ही होता है अत इसमे उत्पन्न होने वाले रोग को भी "माता" ही कहा गया है।

प्रसगवश यह भी जान लिया जाय कि इस रोग को शीतला माता क्यो कहा जाता है। माता रोग का कारण स्त्री रज का मलिन रज है। मलिन रज अग्नि रहित, मृत, दग्ध या उच्छिष्ट तत्व है अत वह शीत है। इधर इस रोग का समय भी वर्ष के वसन्तान्तर दिनो मे होता है। वसन्त के बाद शीत प्रधान साम उत्तरोत्तर क्षीण होने लगता है और अग्नि की मात्रा बढने लगती है। प्राय इन्हो दिनो शीतला माता का प्रचार होता है। इन्हो दिनो शीतलाष्टमी पर माता पूजने का पर्व भी मनाया जाता है। इस अवसर पर खाना-पीना भी ठण्डा होता है। आज इस रोग की रोकथाम के अन्य उपाय भी उपलब्ध है। परन्तु इसका उपाय मुख्यत शीतल पदार्थ सेवन ही माना गया है। अग्नि रहित मलिन कीटाणुओ के सक्रमण से ही रासभ तत्व का उद्भव होता है। यह अनुष्ण, अरस तत्व है। पशुओ मे यह तत्व गदभ या रासभ मे प्रभूत मात्रा मे होता है। इसी से रासभ के लिए शतपथ ब्राह्मण म कहा गया है "यदर मदिय स रासभोऽभवत्" गदभ को पशुओ म शूद्र कहा गया है "शूद्र चानु-ष्टुभ"। यह पशु इतना अनुष्ण या जड भावापन्न होता है कि प्रचण्ड ... भी इसे व्याप्त नही होती। परिहास या व्यग्य मे इसे वशाखनन्दन

भी कदाचित् इसीलिए कहा जाता है। मादा गदभ का दूध भी अतीव शीतल माना गया है। शीतला माता के रोगो के लिए इसका सेवन भी करते देखा गया है। कदाचित इसीलिए नैदानिक रूप म गदभ को शीतला माता का वाहन बनाया गया है। शीतल। माना को सौम्य शक्ति का प्रतीक भी सम्भवत इसीलिए कहा गया है क्योकि सौमगत तत्व ही शक्ति तत्व है और अग्नि गनत य ही रुद्र तत्व है। "माता" रोग से उत्पन्न अशुचि के निवारण के लिए जब दूसरे उपाय नही थे, इन्ही उपायो का आश्रय लिया गया, यह तो आज भी सत्य है कि शीत प्रधान उपचार ही प्रभावशाली उपचार है। निदान और उपचार के-तत्व आज भी वही है, उपकरण अवश्य बदल गये है। माता के निरोध मे आज हमे बहुत कुछ सफलता प्राप्त हो गई है।

अत्रि प्राण से उत्पन्न आशौच का एक अन्य रूप हमारे सामने है। सूय ग्रहण और चन्द्र ग्रहण के समय जब ज्योति क्षीण हो जाती है तो अत्रि प्राण सर्वत्र उत्कष पर होता है। चूकि यह प्राण ज्योति का अवरोधक है, अत इसकी व्याप्ति होने पर हम सौर प्राण सीधे रूप मे अथवा चन्द्रमा के माध्यम से प्राप्त नही होते। ऐसी दशा मे भोजनादि कम करने का निषेध किया है। इसीलिए दृष्टि दोष की आशका भी प्रगट की गई है। ग्रहण के समय जो आशौच माना गया है, वह अत्रि प्राणो के प्रभाव से बचने के लिए ही माना गया है।

अत्रि प्राण की ही तरह अघ नामक एक अन्य तत्व भी महत् तत्व के साथ सलग्न रहता है। यह बताया जा चुका है कि महत या महान् तत्व है। प्राणियो के बीच का प्रवतक है और सवत्र व्याप्त है। इसीलिए इसका महान् कहा गया है। सृष्टि का कोई भी अश इसके बिना नही बन सकता। यह तत्व चद्रगत पितर प्राणो के माध्यम से अन्न मे और अन्न के माध्यम से शुक्र मे प्रविष्टि होता है। तदनन्तर यह सतान की उत्पत्ति का कारक बनता है। महानमे निरन्तर मल रूप अघ का निर्माण होता रहता है। एक प्रकार से महान के साथ अन्तर्याम सम्बन्ध रहता है। अघभी अत्रि की भाति दोष युक्तप्राण है। "अ" अभ्युदय का वाचक है और "घ" घातक अथवा घालक है। अभ्युदय का घातक होने के कारण ही इसे "अघ" माना गया है। यह जन्म और मरण दोनो दशाओ मे अपना प्रभाव रखता है। इसी के कारण जन्माशौच एव शावशौच

अथवा मरणाशौच उत्पन्न होता है। इसमे घर वालो का आशौच, कन्धा देने वालो और अत्येष्टि क्रिया करने वालो का अशौच शामिल है और प्रत्यक प्रकार के अशौच का भिन्न-भिन्न अथ होता है। जन्माशौच को हमार यहा सूतिकाशौच भी कहा जाता है।

जन्माशौच एव शावाशौच दोनो मे ही अघाशौच समान रूप से व्याप्त रहता है। दोनो अन्तर्वाह्य दोनो प्रकार का आशौच माना गया है। सपिण्ड सम्बन्धो के कारण भी आशौच माना गया है और मल प्रभाव के कारण भी। जन्म के समय माता के गभ मे उत्पन्न कितने मलयुक्त द्रव्या के कारण घर मे आशौच उत्पन्न होता है और माता का शरीर भी आशौच पूण रहता है। हमारे यहा सद्य प्रसूता को दस दिन स्नान से वचित रखा जाता है। अत उनके स्पश से भी अशौच पदा होता है। सपिण्ड सम्ब ध के कारण पिता और उसको अन्य सन्ताना मे भी अशौच माना जाता हे। जिन जिन शरीरो मे एक ही पिण्ड के समान रूप से व्याप्त है वे सभी अश।च पूण बन जाते ह। पिण्ड की उपस्थिति हमारे यहा सातवी पीढी तक मानी जाती है जिसका वैज्ञानिक विश्लेपण विगत मे किया गया है। सूतिकाशौच मे एक महत्वपूण क्रिया यह मानी गई है यह आशौच नालच्छेद के बाद ही उत्पन्न हाता है। नालच्छेद पर्यन्त सद्य प्रसूत शिशु माता के शरीर का ही अग रहता है। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नालच्छेद के बाद ही बनता है। वज्ञानिको के लिए एक गहन स्वाध्याय का विषय है। आशौच का यही सिद्धान्त मरणावस्था पर लागू होता है। ज म और मरण दोनो ही अवस्थाआ मे उत्पन्न आशौच के कई पहलुओ पर हमारे यहा भिन्न भिन्न अवधिया आर सम्ब ध निर्धारित हैं।

पिण्डगत आशौच के अतिरिक्त मल तत्वो के कारण आशौच अन्य दशो मे भी माना जाता है। परन्तु आशौच के कई रूप हमारे यहा विशिष्ट हैं। पिंडगत आशौच ऐसा ही आशाच है। अग्नि और अघ मूलक आशौच भी केवल हमारे यही माना जाता ह जिसका स्पष्ट वज्ञानिक आधार बताया गया है।

भिन्न-भिन्न प्रकार के आशौच का स्वरूप प मोतीलाल शास्त्री ने अपने सापिण्डय विज्ञानोपनिषद म विस्तार मे बताया है। आशौच के नाशन के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के सस्कार भी बताये गये हैं, जिनम

से कुछेक उदाहरण हैं। द्रव्य शुद्धि सस्कार शरीर शुद्धि सस्कार, भाव शुद्धि सस्कार, एन शुद्धि सस्कार, ग्रघ शुद्धि सस्कार, ग्रलग-ग्रलग ग्राशौच के लिए ग्रलग ग्रलग नाम बताये गये है। यथा ग्राशौच, पाप, ग्रभिनिवेष, ग्रपवित्रता ग्रौर ग्रशुद्धि। व्यापक ग्रर्थों मे सभी ग्राशौच हैं परन्तु रूढिगत ग्रर्थो मे सभी शब्दो के ग्रलग ग्रर्थ हैं। सम्पूण ग्राशौच विज्ञान का सम्बन्ध ग्राचार निष्ठा से है। इसका जितना विस्तार हमारे शास्त्रो मे मिलता है, शायद हा ग्रन्यत्र कही मिलना हो ग्रौर ग्राचार निष्ठा का लोप भी जसा हमारे समाज मे हुग्रा है, कही नही हुग्रा। कहने को भले ही कहा गया है —

"ग्राचार परमो धर्म्म
शरीरमाद्य खलु धम्म साधनम्"

-❖□❖-

अहोरात

जैसा कि पहले लिख चुका है, सम्पूर्ण जगत् अग्नि सोम मय है। इसी तरह दिन और रात भी वैदिक विज्ञान के अनुसार अग्नि सोम मय ही है। व्यवहार मे हम उनको सूर्योदय और सूर्यास्त के साथ जोड कर काल खण्ड मानते हैं परन्तु वैज्ञानिक तथ्य कुछ और ही है। रात और दिन अग्नि एव सोम से बनते है। इसी तरह ऋतुए बनती है।

पृथ्वी अपने अक्ष (धुरी) पर घूमती रहती है। उसकी यह परिक्रमा 24 घण्टा अथवा 24 होरो मे पूरी होती है। इस परिक्रमा मे जो भाग सूर्याग्नि के प्रकाश मे रहता है वह अह (दिन) है और जो अन्धकार मे रहता है वह रात्रि है। भौगोलिक तथ्य भी यह है और काल गणना की मान्यता भी यही है परन्तु अहोरात्र का जो वैदिक विधान है वह अतीव व्यापक है और उसका विज्ञान भिन्न है। यह अहोरात्र पार्थिव अहोरात्र तक सीमित नही रहता।

वैदिक अहोरात्र व्यवस्था मे मानुष अहोरात्र, पैतृ अहोरात्र, दैव अहोरात्र एव ब्राह्म अहोरात्र भी सम्मिलित है और सभी अग्नि सोममय है। पृथ्वी की स्वाक्ष परिक्रमा की परिणति मानुष अहोरात्र का निर्माण करती है, वह हमारी प्रचलित काल गणना के अनुसार 24 घण्टो का होता है परन्तु यही अहोरात्र चन्द्रमा की पार्थिव परिक्रमा से 30 दिनो का और 30 रात्रियो का होता है। चन्द्रमा अपने दक्षवृत्त पर पृथ्वी की परिक्रमा करता है। यह परिक्रमा दो पक्षो (कृष्णपक्ष-शुक्लपक्ष) मे सम्पूर्ण होती है। चन्द्रमा का अपना अक्ष नही होता। वह सपूर्ण पिण्ड ही अवस्था मे दक्षवृत्त पर पृथ्वी की परिक्रमा पूरी करता। इसी परि-

क्रमा मे 15 अहोरात्रा का कृष्णपक्ष एव 15 अहोरात्र का शुक्लपक्ष बनता है परन्तु चन्द्रमा का यह एक अहोरात्र ही बनता है ।

चन्द्रमा का ऊर्ध्व भाग पितर प्राणो का है और अधोभाग वत्रासुरो का है । हमारा शुक्ल पक्ष चन्द्रमा के ऊर्ध्व भाग मे रात्रि बन जाता है और कृष्ण पक्ष अह बनता है । चन्द्रमा जब सूर्य और पृथ्वी के ठीक बीच मे होता है उस दिन हमारे यहा अमावास्या होती है परन्तु पितरलोक मे वह प्रकाशमय मध्याह्न होता है । हमारी पूर्णिमा पितर लोक मे मध्य-रात्रि होती है ।

कृष्ण पक्ष की अष्टमी भी पितरो का प्रभात एव शुक्ल पक्ष की अष्टमी पितरो का सायकाल होती है । चन्द्रमा का अधोभाग वाला वत्रासुर लोक जब सूर्य के समक्ष होता है सूय मण्डल मे व्याप्त इन्द्र प्राणो का प्रभाव इस वृत्रासुर भाग पर पडता है और असुर प्राणो का पराभव हो जाता है । इसी को पुराण मे कहा गया है इन्द्र द्वारा वृत्रासुर का नाश । चन्द्रमा का चू कि अपना अक्ष नही होता अत उसकी पार्थिव परिक्रमा मे ऊर्ध्व एव अधोभाग की अवस्थाए नियत होती है । ऊध्व भाग पितरलोक एव अधोभाग अर्थात् असुर लोक बारी बारी से अपनी नियत अवस्था मे इन्द्र प्राण मय सूय ज्योति के सम्मुख पडते रहते है । जब ऊर्ध्व भाग सूय के सामने होता है पितरप्राण शिथिल पड जाते हैं । जब अधोभाग सूय के सामने होता है वृत्रासुर का पराभव हो जाता है ।

वदिक विज्ञान के अनुसार हमारा दिन अद्धरात्रि के ठीक बाद शुरू होता है । वैदिक अह का सम्बन्ध मित्र प्राणो से है । मित्र प्राणो की व्याप्ति मध्य रात्रि से मध्याह्न तक होती है । मध्याह्न के बाद मध्य रात्रि तक वरुण प्राण व्याप्त रहते हैं । मित्र प्राणो की व्याप्ति अहोमय पूव कपाल मे होती है और वरुण प्राणो की व्याप्ति रात्रिमय पश्चिम कपाल मे होती है । मित्र भी सौर प्राण हैं अत सूय को मित्र भी कहा जा सकता है ।

पश्चिमी कलेण्डर मे जा 24 घण्टो का दिन रात का क्रम है और तारीख का प्रारम्भ जो मध्य रात्रि के बाद से आजकल माना जाता है वह हमारे यहा वदिक काल से ही चला आया है । अहोरात्र की 24 होरो का भी अंग्रेजी के ह्यवर (घण्टा) शब्द की जननी कही जाए तो अनुचित नही होगा । जिस प्रकार हमारे दिन का प्रारम्भ वज्ञानिक दृष्टि से मध्य

रात्रि वताया गया है उसी प्रकार चान्द्र अहोरात्र भी अमावास्या व पूर्णिमा नही है बल्कि कृष्णाष्टमी एव शुक्लाष्टमी है। अष्टमी को ही पक्ष का प्रारम्भ कहा गया है। ब्राह्म अहोरात्र भी सृष्टि प्रलय के प्रारम्भ मे न होकर मध्य मे है। वतमान सृष्टि के 14 मन्वन्तरो के मध्य का सातवा (वैवस्वत्) मन्वन्तर अभी चल रहा है। इसी के अन्त पर प्रलय रात्रि का प्रारम्भ होगा। इस समय ब्राह्म अह का मध्याह्न काल है। मध्याह्न के तुरन्त बाद ही रात्रि का प्रारम्भ हो जाएगा। सृष्टि और प्रलय का यही वैज्ञानिक क्रम है।

अब सावत्सरिक या दैव अहोरात्र का भी विचार कर लिया जाय। सूय मण्डल को ही सवत्सर की परिधि माना गया है। सूय हमारे 6 महीने की अवधि तक उत्तरायण होता है और 6 महीने तक दक्षिणायन होता है। ये दो अयन ही सूय की परिक्रमा का अयन वृत्त है जिस पर सूय नारायण परमेष्ठिलोक की परिक्रमा करते हैं और सवत्सर की उत्तरायण सौर सवत्सर का अह दक्षिणायन की एक रात्रि है। इसी बीच पृथ्वी सूय की परिक्रमा क्रान्तिवृत्त पर घूमती हुई पूरी कर लेती है। सूय देव प्राणो का लोक है अत इस अहोरात्र को दैव अहोरात्र कहा गया है।

सूय, च द्रमा और पृथ्वी की अहोरात्र व्यवस्था का आधार ब्राह्म अहोरात्र ही है स्वयभू एव परमेष्ठी की समष्टि को ही ब्रह्मलोक कहा गया है। उपर्युक्त त्रिलोकी के अतिरिक्त यह चौथा लोक है। इसका आधार ब्रह्मा है ब्रह्मा का एक दिवस ही सृष्टि है और उसकी एक रात्रि ही प्रलय है। सूय जब से उत्पन्न हुआ है और जब तक प्रकाशमान रहेगा, वह ब्रह्मा का एक अह और उसका लय हो जाना ही रात्रि है। अहोरात्र परिमाण एक समान माना गया है।

वदिक विज्ञान के अनुसार अह और रात दो तत्व हैं। ये काल खण्ड नही हैं। अह ज्योतिमय अग्नि है और रात्रि तमामय सोम है। ज्योतिमय अग्नि की जब तक जहा तक व्याप्ति है, वह अह हैं। पार्थिव अहोराघ मे तत्व 12-12 होरोओ तक व्याप्त है, चान्द्र (पतृ) अहोरात्र मे वह पन्द्रह पन्द्रह दिन-रात तक कृष्ण पक्ष एव शुक्ल पक्ष के रूप मे व्याप्त है। सवत्सर मे वह छ छ महीनो की अवधि तक उत्तरायण एव [illegible] के रूप मे व्याप्त है। ब्राह्म अहोरात्र मे वह सृष्टि एव प्रलय

के रूप मे व्याप्त है। दोनो ही तत्वो का आधार परमेष्ठि लोक है जो सूय लोक का आधार भी है। परमेष्ठि मे व्याप्त भृगु एव अगिरा तत्वो से ही दोनो की उत्पत्ति होती है भृगु से ही आप एव सोम तथा अगिरा से अग्नि एव तेज उत्पन्न होते है। इन्ही से सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण हुआ है। सृष्टि निर्माण की अवस्था मे पहुचते हुये उनका रूप वदल जाता है। अर्थात् ये तत्व यौगिक रूप मे सृष्टि का उपादान बनते हैं।

दिन और रात छोटे वडे क्यो होते हैं, इसका भी स्पष्टीकरण कर लिया जाय। जैसा कि विदित है, पृथ्वी, क्रान्ति वृत्त पर सूय की परिक्रमा करती है। सूय बृहती छद अथवा विपुवत् वृत्त के मध्य मे स्थित है। इसकी पृथ्वी परिक्रमा को चार भागो मे बाट दीजिये। ये चार भाग हैं –दक्षिण परम क्रांति सपात, शरद क्रान्ति सपात, उत्तर परम क्रान्ति एव वसन्त सपात। दक्षिण परम क्रान्ति सपात पर पृथ्वी जब पहुचती है तो सूर्य उत्तर परम क्रान्ति सपात पर दिखाई देने लगता है। इस दिन अह (दिन) सबसे छोटा होता है और रात्रि सबसे वडी होती है। दक्षिण-उत्त परिक्रमा करती हुई पृथ्वी जब शरत सपात पर आती है तो वह क्रान्ति पतन लक्षण कहा जाता है और विपुव सपात वन जाता है। शरत सपात पर पृथ्वी के आने पर सूय वसन्त सपात पर दिखाई देता है। इस समय दिन रात वरावर होते हैं। पृथ्वी जब शरत् सपात से हटकर उत्तर परमक्रान्ति पर पहुचती है तो सूय दक्षिण परमक्रान्ति पर दिखने लगता है। तव रात्रि सबसे छोटी और दिन सबसे वडा होता है। पृथ्वी जब वसत सपात पर पहुच जाती है तो सूय शरत् सपात पर दिखाई देने लगता है और दिन रात वरावर हो जाते है।

अहोरात्र व्यवस्था चार प्रकार की बताई गई है जो मानुष पत्र दैव एव ब्राह्म अहोरात्र के नाम से जानी जाती है। अहोरात्र जिस प्रका अग्नि सोम तत्वो पर आधारित है उसी प्रकार मानुष, पत्र एव दव प्रजाअ के स्वभाव का भी निरूपण किया गया है। मानुष पार्थिव प्रजा है, पित चान्द्र प्रजा है और दैव सूय प्रजा है। चान्द्र प्रजा मे आसुर और पार्थि प्रजा मे पशु सम्मिलित हैं। इन प्रजाओ का स्वरूप क्या है और इनक निर्वाह किस प्रकार होता है, इस सम्बन्ध मे मोतीलालजी ने अतीव रोचक एव शिक्षाप्रद आख्यान प्रस्तुत किया है जिसको उद्धृत करना अप्रासगिक न होगा। आख्यान इस प्रकार है —

कथानक की सदभगति लगाने के लिए मान लीजिये, "प्रजाकामुक्त प्रजापति ने" "प्रजात तु मा व्यवच्छेत्सी" अपने इस आदेश का व्यावहारिक रूप से सामने रखने के लिए स्वय प्रजा उत्पन्न की। २ प्रजापति से उत्पन्न यह प्रजा देवप्रजा, पितृप्रजा, असुरप्रजा, मनुष्यप्रजा, पशुप्रजा इन पाच श्रणियो मे विभक्त हुई। दूसरे शब्दो मे स्वय प्रजापति से ही पाच प्रजा उत्पन्न हुई। इस आख्यान सदभ सगति से आगे श्रौत आख्यान यो आरम्भ होता है —

(१) उत्पन्न प्रजा उत्पादक पिता प्रजापति का सेवा मे उपस्थित हुई और निवेदन करने लगी कि, भगवन्! आपने हमे उत्पन्न ता कर दिया। परन्तु अभी तक हमारी जीवन-यात्रा निर्वाह के लिए भोग्य सामग्री की व्यवस्था न हुई। हम आपसे प्राथना करते हैं कि हमारे लिए काई उपाय कोजिए, जिसको आधार बनाकर हम जीवित रह सकें। इस प्रकार भाग्यव्यवस्था के लिए सामूहिक निवेदन कर आगे जाकर प्रत्येक ने व्यक्तिगत रूप से अपने मनोभाव प्रकट करना आरम्भ किया इसी सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना चाहिए कि असुरप्रजा पाचो मे आयु, सख्या दोनो मे ज्येष्ठ थे। साथ ही ये सबसे पहले उपस्थित हुए थे। परन्तु प्रजापति "सूचोकटाह याय" को आगे कर प्रत्येक बार इन्हे यह कहकर लौटा देते थे कि, तुम सबसे बडे हो तुम्हे धैय रखना चाहिए। पहिले तुमसे कनिष्ठप्रजा की व्यवस्था होगी। सर्वान्त मे तुम्हारा सतोप किया जायगा। फलत देवप्रजा का ही प्राथम्य सुरक्षित रहा।

यज्ञोपवीत धारण कर, अपने दाहिने जानु को भूपृष्ठ पर सलग्न कर देवप्रजा प्रजापति के सम्मुख उक्त निवेदन कर बैठ गई। प्रजापति ने इस सव्यजान्वाच्योपतिष्ठन् देवताओ के लिए यह व्यवस्था को कि "यज्ञ तुम्हारा अन्न होगा, तुम सदा अमृतभावापन्न (सोमामृताहुति से अजर अमर रहोगे)। सदा ऊक बल से युक्त रहोगे एव सूय तुम्हारा प्रकाश होगा।" देवता सतुष्ट होकर लौट गये। अनन्तर—

प्राचोनावीती (यज्ञसूत्र को दक्षिणास्कधा पर डालकर) बनकर बाए जानु को भूपृष्ठ पर सलग्न कर पितरप्रजा प्रजापति के सम्मुख उक्त निवेदन कर बैठ गई। पितरो को सम्बोधन करते हुए प्रजापति ने इनके लिए यह व्यवस्था की कि "महीने महीने मे (प्रतिमास मे एक बार अमावस्या ।) तुम्ह अन्न मिलेगा, एव तुम्हारे लिए" स्वधा अन्न तृप्ति का कारण

बनेगा । मनोजव (श्रद्धामय मानस बल) तुम्हारी प्रातिस्विक सपत्ति होगी । चद्रमा तुम्हारा प्रकाश होगा ।" पितर भी सतुष्ट होकर लौट गए । अनन्तर—

(३) प्रावृत्त होकर (गले से माला की भाति यज्ञसूत्र धारण कर) उपस्थभाव से (आलथी पालथी मारकर) मनुष्य प्रजा प्रजापति के सम्मुख उक्त निवेदन कर बैठ गई । इनके लिए प्रजापति ने यह व्यवस्था की कि, एक अहोरात्र मे दो बार साय-प्रात तुम्हे अन्न मिलेगा । मृत्यु तुम्हारी प्रातिस्विक सपत्ति होगी । अग्नि तुम्हारा प्रकाश रहेगा ।" मनुष्य प्रजा भी सन्तुष्ट होकर लौट गई । अनन्तर—

(४) अपने यथाजात स्वरूप से ही पशुप्रजा के सम्मुख उक्त निवेदन कर बैठ गई । प्रजापति ने इन्हे कोई सम्बोधन न कर अपने सकल्प से ही इनके लिए यह व्यवस्था बना दी कि, तुम्हे जब भी कभी समय-असमय मे कुछ खाने के लिए मिल जाए, खा लिया करो । तुम्हारे लिए कोई नियत समय नही है । (श्रुत्यन्तर के अनुसार) पार्थिव क्षार भाग तुम्हारी प्रातिस्विक सपत्ति होगी । मनुष्यप्रजा तुम्हारा प्रकाश होगा ।" पशुप्रजा भी सन्तुष्ट होकर लौट गई ।

(५) सर्वान्त मे उस सर्वश्रेष्ठ बहुसख्यक असुरप्रजा को अवसर मिला, जो उक्त चारो प्रजाओ से पहले भी उपस्थित होने की धृष्टता कर चुकी थी, अनन्तर चारो के साथ भी जो उपस्थित होकर अपने आसुर धर्म को व्यक्त कर रही थी, प्रजापति ने इनके लिए "माया" को तो अन्नस्थानीय बनाया, एव तम (अन्धकार) को प्रकाशस्थानीय बनाया । अपनी "माल्व्य" (अधैर्य) वृत्ति के अनुग्रह से इन असुरो ने रुष्ट प्रजापति से माया, तम, रूप जो भोग्य प्राप्त किया, उसका परिणाम यह हुआ कि, कालान्तर मे इन्ही भोग्यो से इस प्रजा का सर्वनाश हो गया । स्वरूपत देवता, पितर, मनुष्य, पशु यह प्रजाचतुष्टयी ही प्रजापति के यश को सुरक्षित रख सकी ।

वाग्देवी-१

वाक देव के नाम से हम जिस वस्तु को जानते हैं वह लिखित पठित भाषा है। अधिक से अधिक बुद्धि तक पहुचते हैं। हैं। सरस्वती का वाग् देवी का प्रतोक स्वरूप अवश्य मानते हैं। यथाथ मे वाक् देवो चराचर का निर्माण करने वाली शक्ति है। भाषा या वाणी के रूप मे जिस वाक् देवी को हम व्यवहार मे लाते है, वह तो उसका स्थल रूप है। वह विशुद्ध वाक् देवी नही है।

वाक् का मूल परावाक है। इसका उद्भव स्वयभू लोक है। स्वयभू प्राणो का लोक है। अत इस वाक् को सत्या वाक् भी कहते है। यह वह मूल तत्व है, जिससे ऋक् [अग्नि] यजु [वायु] साम [द्यौ] नाम से प्रसिद्ध त्रयीवेद को रचना भी होती है अत इसे वेद वाक भी बताया गया है। हमारे विश्व को रचना का क्रम इसी वाक से प्रारम्भ होता है। इसी के केन्द्र को प्रजापति कहा जाता है अत यह प्रजापति की महिमा अथवा स्वमहिमा रूप मे भी जानी जाती है। इसी को ब्रह्म निश्वसित भी माना जाता है।

इस वाक् देवी मे आनन्द, विज्ञान, मन और प्राण समाये रहते हैं। इसी को आत्मा कहा गया है। "स वा एष आत्मा वाङमय प्राणमयो मनो मय" इस वृहदारण्यक श्रुति से यह प्रमाणित है। श्रुति प्रमाण के आधार पर इस वाक् को हम आत्मवाक् भी कह सकते हैं। मन, प्राण, वाक् तत्वो मे मन तो आधार मात्र है। प्राण और वाक् से शब्द और अथ की सृष्टि होती है। प्राण गतिमय होते है। वाक् स्थिर तत्व है। गति ही वायु है, अतरिक्ष है। स्थिति आकाश है। गति और स्थिति ही यजु है। यही यजुर्वेद शब्द और अथ तत्वो का आधार है। ऋक और

साम इसके आयतन हैं। ऋक् और साम ही छन्द अथवा आकार के प्रवतक हैं। यही इनका आयतन भाव है।

स्वयभूलोक को अपना आधार बनाने वाली यह वाक् अपने विस्तार मे आगे जाकर आम्भृणीवाक्, बृहतीवाक्, सुब्रह्मण्यावाक् और अनुष्टुपवाक् के नाम से चार रूपो मे विभक्त हो जाती है। विशुद्ध रूप मे वह सत्या वाक् है और यौगिक रूपो मे वह वाक् चतुष्टयी अथवा चत्वारि वाक बन जाती है। इस वाक स्वरूप के लिए कहा गया है कि वेद ब्रह्म को जानने वाला "ब्राह्मण" ही इसका ज्ञान कर सकता है वेद विज्ञान शून्य ब्राह्मण व अन्य कोई भी इस वाक् चतुष्टयी को नही जान सकता।

आभृम्णी, बृहती, सुब्रह्मण्या और अनुष्टुप् मे अनुष्टुप वाक ही हमारे व्यवहार मे आती है। यह स्थूल वाक् है। अन्य तीन वाक् तत्वो को गुहानिहित अर्थात् सूक्ष्म, गुप्त, बताया गया है, जिसका ज्ञान साधारण मनुष्यो के लिए सम्भव नही।

क, च, त, र इत्यादि वर्ण अनुष्टुप् वाक् से बने हुए है। यही हमारी भाषा के आधार है। इस व्यञ्जन वाक् का आधार स्वर वाक् है जो सौर मण्डल से उद्भूत है व्यजन वाक् पार्थिव वाक् है। सूय चूकि बृहती छन्द पर प्रतिष्ठित है अत उसे उद्भूत स्वरवाक् को बृहती वाक् कहा गया है। स्वरवाक् व्यजन वाक् के गभ मे निहित है अर्थात् व्यजन की प्रतिष्ठा स्वर से ही है। जिस बृहती छन्द का उल्लेख ऊपर किया गया है वह खगोल का विपुवत् वृत्त है। गायत्री, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप आदि सात छन्दो या सौर मण्डल के सात वृत्ता मे से यह एक है और बडा भी है अत इसे बृहती कहा गया है। इसी के सम्बन्ध से सूय का बृहत् भी कहा जाता है। यही सात छन्द या सात वृत्त सूय के सात घोडे है।

बृहती वाक् का आधार सुब्रह्मण्या वाक् है जो स्वरवाक की भी प्रतिष्ठा है। आम्भृणी वाक् सर्वाधारभूता है। यह चारो लोको परमेष्ठी, सूय, चन्द्रमा और पृथ्वी मे प्रतिष्ठित है। ऋग्वेद सहिता मे इसके लिए कहा गया है

> अह रुद्रेभिवसुभिश्च राम्यहमादित्यैरुत विश्वेदेवे।
> अह मित्रा वरुणोभा बिभर्म्य हमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा।

यह वायु, रुद्र, वसु, आदित्य, विश्वदेव इन चारों देवता वर्गों में—विचरण करती है और मित्र वरुण, इन्द्र, अग्नि, नासत्य, दस्र इन छ देवताओं की यह प्रतिष्ठा बनी हुई है। नासत्य और दस्र सान्ध्य देवता अश्विनी कुमार नाम से प्रसिद्ध हैं। अष्टवसु पार्थिव होता है, ग्यारह रुद्र आन्तरिक्ष्य कहलाते हैं और बारह आदित्य दिव्य प्राण देवता हैं। चतुर्थलोक आप्य देवता [परमेष्ठी] है जो विश्वदेव रूप में जाना जाता है। "सर्व मापोमय जगत्" के सिद्धान्त से आपोमय लोक ही विश्वदेव है। पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्यौ, आप चारों लोक पृथ्वी लोक में निहित हैं। पृथ्वी का अभिप्राय भूपिण्ड मात्र नहीं है, बल्कि पिण्ड का पृथुल महिमा मण्डल ही पृथ्वी है जिसे मही भी कहा गया है। इसका विस्तार 33 स्तोम तक
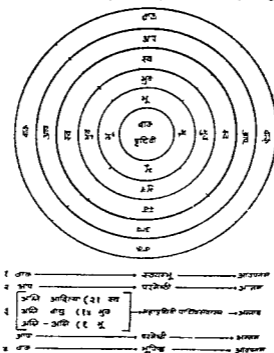
पाच भागों मे हो रहा है। तीन स्तोम तक भूपिण्ड है, ग्यारह स्तोम तक रुद्र है, पन्द्रह स्तोम तक अंतरिक्ष है, इक्कीस स्तोम तक आदित्य है और सत्ताईस स्तोम तक आप्य प्राण हैं। तैंतीस स्तोम तक विश्व देव व्याप्त

है। स्तोम परिमाण से इस प्रकार इन विवर्तों का सीमाकन हुआ है। तेतीस स्तोम तक सवत्र आम्भृणी वाक् व्याप्त है। यही सम्पूर्ण विश्व है, इसी मे हमारी यह सृष्टि है।

अग्नि, वायु, आदित्य एव विश्वदेव ही क्रमश असज्ञ, अन्त सज्ञ, ससज्ञ एव सौम्यदिव्य जीवो के कारक है। अग्नि से जड पदाथ, वायु से अद्धचेतन औषधि वनस्पति, आदित्य से ससज्ञ प्राणी एव विश्वदेव से सौर चान्द्र देव, असुर, पितरादि की सृष्टि हुई है, जिसका एक वैज्ञानिक क्रम है। अग्नि रूप असज्ञ सृष्टि मे वायु का सयोग होने पर अद्धचेतन सृष्टि एव आदित्य का सयोग होने पर ससज्ञ सृष्टि बनती है। इसी प्रकार सृष्टि का उत्तरोत्तर विकास क्रम है। इसको भी एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसका विवेचन एक स्वतन्त्र निवन्ध का विषय है। विगत मे इस पर चचा की जा चुकी है।

उपयु क्त चारो सृष्टिया वाक् पुत्र कहलाती हैं। वाक् स्वय मे स्थिर है परन्तु वाक पुत्र चर हैं, गतिमान है। शब्दावच्छिन्न गति के द्वारा वाक्देवी चारो से सम्पृक्त रहती है। सौर-मण्डल के अन्तगत जो सृष्टि है वह पार्थिव है। एव द्यौ मण्डल मे यह सृष्टि अग्नि व मघवेन्द्र मे विभाजित है। पृथ्वी के निकट अग्नि का आधिपत्य है। सूय के निकट मघवेन्द्र प्राण का प्रभुत्व है। यही सौरी वाक का अधिष्ठाता है। सौर-मण्डल के पूव पश्चिम के दो गोलाद्ध पूव कपाल एव पश्चिम कपाल नाम से विदित है। पूव मे मित्र प्राश एव पश्चिम मे वरुण का आधिपत्य है। ये भी वाक् देवी पर प्रतिष्ठित है। इसकी विभाजिक रेखा उवशी है जिसे हम अप्सरा रूप जानते हैं।

द्यावा पृथ्वी से ऊपर तृतीय लोक परमेष्ठि है जो सोम का उद्भव है। इसी सोम तत्व के निरन्तर आदान से सूय की ज्योति विद्यमान है और इसी ज्योति की सहायता से सौर देवता तमोमय असुरो का नाश करत ह। इसी से सोम को आहनस [शत्रूणामाहर्तार] भी कहते हैं। यह पारमेष्ठ्य सोम आहन्तव्य है। परमेष्ठि लोक की वाक् भी आम्भृणी है। सोम इसी वाक् पर प्रतिष्ठित है।

त्वष्टा, पूषा एव भग नाम से तीन आदित्यो की प्रतिष्ठा भी वाग्देवी है। त्वष्टा प्राण वस्तु को आकार प्रदान करता है। पूषा उसका

पोपण करता है। आकार विशेष को ही छन्द कहा जाता है। "वाक परिमाण छन्द" सिद्धान्त के अनुसार वाक् ही सीमाभाव प्रवर्तक छन्द की प्रतिष्ठा बनी हुई है। वस्तु पिण्ड की महिमा किंवा उसका वितान ही पूषा प्राण की पुष्टि है। भग छ प्रकार के हैं जो ज्ञान, वैराग्य, धर्म, ऐश्वर्य, यश और श्री नाम से विख्यात हैं। इनकी प्रतिष्ठा आम्भृणी वाक की सहचरी सरस्वती वाक् है। इसका भी उद्भव परमेष्ठि लोक ही है। सरस्वती वाक शब्द की जननी है और आम्भृणी वाक् अर्थवती है। यही सरस्वती और लक्ष्मी का साहचर्य भाव है।

कहा गया है कि वाक तत्व के इस मौलिक पारमेष्ठ्य रूप का जानकर जो यजमान अपने संवत्सर यज्ञ मे सोमाहुति प्रदान करता है, उस यजमान के लिए यह वाग्देवी विपुल सम्पत्ति प्रदान करती है। ऋग्वेद का मन्त्र है —

अहं सोमं माहनसं विभर्म्यहं त्वष्टारमुतभगम्
अहं दधामि द्रवकणं हविस्मते सुप्राव्ये याजमानाय सुन्वते

एक मन्त्र मे वाग्देवी को राष्ट्री बताया गया है। यथा

अहं राष्ट्री सगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
ता मा देवा व्युदधु पुरत्राभूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥

इस मन्त्र मे वाग्देवी की विश्वरूपता का निरुपण किया गया है। यह वाग्देवी राष्ट्री है अर्थात् राष्ट्र का सचालन करने वाली है। "वाक् सम्पत्ति" ही राष्ट्र का मुख्य बल है। इसे विज्ञान भाषा मे ब्रह्म बल कहा गया है। यही ज्ञान बल है। राष्ट्र स्वयं क्षेत्र बल है। राष्ट्र का तीसरा बल अर्थ बल है। अर्थ बल वाक पर ही आश्रित है। वाक ही अपने सरस्वती रूप से ब्रह्मबल की अधिष्ठात्री है, वही आम्भृणी रूप मे अर्थबल की प्रतिष्ठा है। इसे "वसूनां सगमनी" इसलिये कहा गया है कि अष्टवसु पार्थिव देवता हैं। पार्थिव देवता ही अर्थ बल के आधार हैं। ज्ञान बल की अपेक्षा से इस वाक् को चिकितुषी कहा गया है। किसी भी विषय पर अधिकारपूर्वक बात करने वाले विद्वान को हम "चिकित्सुट" कहते है। बुद्धि मे एक धिषणात्मक वृत्ति निहित रहती है, जिससे नित नित नवीन स्फुरण होता रहता है। उपज या सूजबूझ इसी धिषणा वृत्ति का कार्य है। यह वृति वाक्देवी के अनुग्रह से ही प्राप्त ोती है। चिकितुषी का यही अर्थ है।

प्राकृतिक एव वैध यज्ञ की सचालिका भी यही वाग्देवी है। प्राकृतिक यज्ञो मे यह तत्व रूप म है जैसा कि ऊपर बताया गया है। वैध अर्थात् मानवकृत यज्ञो मे यही वाग्देवी शब्दार्थ रूप मे है। अध्यात्म [शरीर] सस्था मे सभी काय इस आधिदविक वाक् तत्व से सचालित होते हैं।

प मोतीलाल शास्त्री ने उपनिषत् विज्ञान भाष्य भूमिका मे वाग्देवी पर विस्तार से चर्चा की है। उसको सूक्ष्म रूप मे यह उद्धृत किया गया है। वाग्देवी के भिन्न भिन्न रूपो पर अग्रतर चर्चा की जाएगी।

—❀❀—

वाग्देवी के विवर्त्त [2]

वाग्देवी कई रूपों में सूक्ष्म स्थूल, प्रत्यक्ष परोक्ष, व्यक्त अव्यक्त रूपों में विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। इसकी व्यापकता का निरूपण संक्षिप्त निबन्ध में पिछली बार किया गया है। इसके विभिन्न रूपों पर भी चर्चा कर लेना उचित होगा।

वाग्देवी अग्नि रूप में सम्पूर्ण प्राणदेवताओं को एवं सम्पूर्ण भूत-पदार्थों को अन्न ग्रहण करने में सहायक होती है। वह स्वयं अन्नादस्वरूप अग्नि है। हम जिस वाणी का व्यवहार करते हैं वह भी वागग्नि का ही एक रूप है। कहा गया है कि 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्" यह वैश्वानर के रूप में हमारे मुख में प्रविष्ठ है। यही ध्वनि, स्वर, शब्द, छन्द इत्यादि पदार्थों का कारण है। ब्रह्माण्ड में व्याप्त जो 'अनहत्' नाद कहा जाता है वह वैश्वनर का ही कम्पन है परन्तु सुनाई नहीं देता। वह आपोमय ब्रह्माण्ड में सूक्ष्म रूप से व्याप्त है और नाद रूप में जाना जाता है। यही अनहत नाद है। स्थूल अग्नि भी जब स्थूल जल से प्रवेश करता है तो उबाल या उफान के साथ एक ध्वनि उत्पन्न कर देता है। यही क्रम सूक्ष्म अग्नि और और सूक्ष्म जल के सम्मिश्रण में भी बना हुआ है और वही अनहत नाद का कारक है।

प्राणदेवता इस वागग्नि से ही अन्न ग्रहण करते हैं। पृथ्वी से 48 अहगण तक व्याप्त वषटकार मण्डल ही है। देवताओं के अन्न ग्रहण का पात्र है। यह वाग्वषटकार मण्डल ही है। देवताओं का अस्तित्व तो 33 अहगण तक ही है। अहगण अहोरात्र सिद्धान्त पर आधारित प्राकृतिक माप है जिसके अनुसार पृथ्वी पिण्ड से सूर्य की दूरी 21 अहगण अर्थात् करोड़ मील आकी जाती है। वषट्कार मण्डल में विद्यमान प्राणदेवता

जिस दिव्याग्नि के द्वारा अन्नादान करते हैं, उसे 'आस्पात्र' कहा गया है। यह वाग्देवी का ही एक रूप है।

वषट्कार वह वाग्मण्डल है जो अपने भीतर छ वाग्मण्डलो को घेरे हुए है। इसमे एक सहस्र वाक् विवत्त बने हुए हैं जो मन, प्राण, वाक् गर्भित हैं। इसी को वाक साहस्री कहा जाता है। वाक् साहस्री मे 30-30 की राशि का एक एक अहर्गण बना हुआ है। वाक् साहस्री मे कुल 33 अहगण बने हुए हैं। इनम तीन तो भूपिण्ड मे ही ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्राक्षरो के रूप मे समाये हुए है। शेष 30 अहगण द्युलोक तक वाक् तत्व के रूप मे व्याप्त हैं। भूपिण्ड मे निहित तीन अहगणो के अतिरिक्त छ छ अहगणा का एक एक विवत 33वें अहगण तक विभक्त है।

इन्ही षटविवर्त्तों के सम्बन्ध मे इस महामण्डल को षटकार या वषट्कार कहा जाता है। इसमे 34 वा विवत 10 अहगणो का है जिसे प्राजापत्य अहगण कहते है। वषटकार का केन्द्र 17 वा अहगण है। अहगण को स्तोम परिणाम मे बदलने पर यही मण्डल 48 स्तोम का होता है। वाकदेवी की व्याप्ति अन्तिम अहगण अथवा अन्तिम स्तोम तक है। यही पृथ्वी मण्डल की भी सीमा है। भूपिण्ड पृथ्वी नही है बल्कि भूमि प्रथनन होने वाला मण्डल ही पृथ्वी मण्डल है सूय से भी आगे तक पहुचता है। इसी मे भूपिण्ड, अन्तरिक्ष एव आदित्य लोक निहित हैं। भूपिण्ड अग्नि है। यही तरल निस्वत होकर वायु एव विरल आदित्य का रूप धारण कर लेती है। मूलत तीनो अग्नि स्वरूप हैं और यही त्रयीवेद ऋक्, यजु और सोम का मौलिक रूप हैं।

जड पिण्डो का अस्तित्व भी अग्नि पर ही निभर करता है। प्रत्येक भौतिक पिण्ड मे निरन्तर आदान-विसग का एक क्रम बना रहता है। वह अपने स्थान पर स्थिर रहते हुए भी अपने चारो ओर गतिमान रहता है। इनका आदान कम वैश्वानराग्नि से सचालित होता है वैश्वानर ही भूत वाक मे परिणत होता है। हमारे शरीर मे अन्न ग्रहण का काय भी मुख के माध्यम से ही वैश्वानर ही करता है। अन्न ग्रहण के इसी कम के कारण वाक्तत्व को 'अत्रि' कहा गया है "वागेवात्रि" (शतपथ)

वैधयज्ञ मे मत्रवाक् के रूप मे इसी वाग्देवी से अन्नाहुति होती है।

मन्त्र ही यज्ञ का अन्न है। इस तरह कहा जा सकता है कि सब वाग्देवी से ही अन्न ग्रहण करते हैं। यथा 'ममासो अन्नमति'।

प्राकृतिक प्राणाग्नि ही वाक् हैं। अग्नि, वायु, आदित्य इसी के तीन विवर्त्त हैं। वाक, प्राण और चक्षु की रचना इन्ही तीन तत्वो से होती है। अन्न ग्रहण करने वाली वाक केश और नख के अतिरिक्त हमारे शरीर मे वैश्वानर रूप मे व्याप्त है। यह वाणी से भिन्न है। प्राण भी वायु से उत्पन्न है और वायु भी वाक का ही अवस्था भेद है। चक्षु भी पश्यत भाव से वाक् ही है। जा कुछ हम देखते हैं, सुनते हैं, करते हैं, सब कुछ वाक् पर ही अवलम्बित है।

जडवा असज्ञ सृष्टि अर्थात लौह पाषाण मे कोई हलचल दिखाई नही देती उन्हे पुकारो तो कोई उत्तर नही देता। जड पदार्थ मूक भाव से जसे दखते रहते हैं। इनके विषय मे श्रुति कहती है 'यो विपश्चयति' अर्द्धचेतन सृष्टि अर्थात औषधि वनस्पति भी कोई उत्तर नही देती। किन्तु इसमे प्राण-व्यापार रहता है अत वह ऊर्ध्वगामी होती हैं। उनके लिये कहा गया है 'य प्राणिति' जीवसृष्टि सुनती है जिसके लिय श्रुति मे थई शृणोति कहा गया है। ये तीनो ही सृष्टिया वाग्देवी से ही अन्न करती है।

सम्पूर्ण ज्ञान-कर्म का सचालन वाक शक्ति से ही होता है। ज्ञान-कर्म ही लोक सम्पत्ति के सग्राहक है। जो लोक वाक तत्व के इस स्वरूप का नही जानते वे लोक सम्पत्ति से वचित ही रहते हैं।

विगत मे वाग्देवी के चार स्वरूपो आम्भृणी, सुब्रह्मण्या, बृहती और अनुष्टुप्-का उल्लेख हुआ है जिन चारो ही का क्रमश स्वयभू परमेष्ठी, सूर्य और पृथ्वी स सम्बन्ध है। वाग्देवी के चारा पदो का विश्लेषण भी कर लेना हागा। विश्वकर्मा रूप स्वयभू का वाचस्पति कहा जाता है अत उसकी वाक् का वाचस्पत्य कहा गया है। परमेष्ठो का सोम ब्रह्मणस्पति कहलाता है अत इस वाक का ब्राह्मणस्पत्य कहा जाता है। यह सौम्यावाक है। सूर्यगत प्राण इन्द्र नाम से प्रसिद्ध है अत इस वाक का ऐन्द्री या ऐन्द्र बताया गया है। पार्थिव वाक् भौमा है।

रौदसी त्रलोक्य अर्थात् पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य के आकाश का पुराण कहा जाता है। क्रन्दसी त्रलोक्य अर्थात् परमेष्ठो के अन्तगत विष्णु

म्प लोक या आकाश शेषशायी विष्णु के सम्बन्ध मे अनन्ताकाश कहलाता है और सयती त्रैलोक्य स्वयभू लोक के पास का परमाकाश कहा गया है। स्वयभू ही सयती त्रैलोक्य का द्युलोक है। यही परमाकाश है। इस परमाकाशमयी वाक् को वेकुरावाक् बताया गया है। यही प्रथम वाचस्पत्य पद है। अनन्ताकाश मे व्याप्त वाक् सुब्रह्मण्या या ब्राह्मणस्पत्यवाक है। सौरमण्डल रूपी महाब्रह्माण्ड की वाक् गौरवीता या गौरीवीता है वाक का यह तीसरा पद एन्द्र पद है। पार्थिव मण्डल के अन्तगत की चान्द्रलोक से सम्बद्ध वाक ही ग्राम्भृणी या भौम वाक् है जो सौम्या भी है और आग्नेय भी। ये चारो ही वाक् अपने अपने लोक की प्रतिष्ठा हैं चारो मे पूर्व की तीन वाक् गुहानिहित अर्थात् गुप्त हैं। चतुर्थ आम्भृणी वाक् ही पार्थिव प्रजा का स्वरूप निर्माण करती है और यही व्यवहार में भी आती है। वाङमय भौतिक शरीरो के निर्माण मे भी इसी वाक् का उपयोग है। आम्भृणी वाक् ही हमारे व्यवहार मे आती है और वही प्रगट हुई है अन्य तीनो वाक् गुप्त हैं।
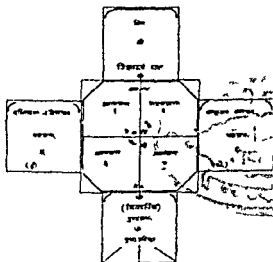
जिस वाक् का हम उच्चारण करते हैं उस वाक् का मौलिक रूप पहले ही हमारी अध्यात्म [शरीर] सस्था मे प्रतिष्ठित रहता है। वही प्रथम प्रतिष्ठा वाग्देवी ऋक, साम, यजुमयी [वेकुरावाक्] वेदवाक् नाम से प्रसिद्ध है। यह मूलत उपादान रूप मे है। व्यवहार दृष्टि से गुहानिहित है।

आम्भृणी वाक का समन्वय केवल पार्थिव लोक के सम्बन्ध से भी किया गया है। पार्थिव लोक मे यही राथन्तरी वामव्या, बृहती और पशव्या बन जाती है। अग्निमयी पृथ्वी की वाक का साम रथन्तर है अत इस वाक् को राथन्तरी कहा गया है। भूपिण्ड से ऊपर अन्तरिक्ष की वायु मयी वाक् का साम वामदेव्य है अत इस वाक् को वामदेव्या कहा गया है। सूर्य अथवा इन्द्र वाक का साम बृहती माना गया है अत इसका वाक को बृहती कहा जाता है। भूपिण्ड की पशु लक्षणा वाक् को पशव्या कहा गया है। यही भूपिण्ड की वाक् मर्त्य वाक् है। मर्त्य का ही पशु कहा गया है। पृथ्वी की प्रजा का स्वरूप पंच पशुमय है। पञ्च पशुओ मे प्रथम पशु पुरुष ही अर्थात् मनुष्य ही है। मनुष्य एव अन्य पशु भी इसी पशव्या वाक का ही व्यवहार करते हैं। राथन्तरी वाक् अग्नि सम्बन्ध से ऋक् है। वामदेव्यावाक वायु सम्बन्ध से यजु है। इस शब्द का व्यवहार ऊपर भिन्न भिन्न वाक् रूपो के साथ हुआ है।

वाक् को विश्व की मूल शक्ति के रूप मे प्रतिपादित किया गया है। इसका विश्लेषण भी अपेक्षित है। स्वयभू लोक से उद्भूत सत्यावाक वा अमृतावाक् अपना विस्तार करने के लिये सब प्रथम परमेष्ठी समुद्र के अप्तत्व का विच्छेद करती है और उसी मे व्याप्त हो जाती है। वह ब्रह्माण्ड की सीमा का उदय करती है। इसका यह लक्षण क्रम निरंतर चालू रहता है जो आगे चलकर सम, विषम एव अपरिमित भेद से तीन विभागो मे बट जाती है। सम विभागो का स्पष्टीकरण 1-2-4 8 के सख्याओ से होता है। विषम विभागो का स्पष्टीकरण 9 या नवपदी से और अपरिमित विभागो का साहस्री या सहस्राक्षरा से स्पष्टीकरण होता है।

उदाहरणत अधिभूत सस्था मे बीज से अकुर, अकुर से कणकरी, कर्णकरी से शाखा, प्रशाखा और इनसे असख्य पत्र वागविभक्तियो का प्रसार होता है। अध्यात्म पक्ष मे ब्रह्मरन्ध्र, हृदय, नाभि, गुदादि एक पद हैं। हस्त,पाद, चक्षु, श्रोत्र, श्रोणी, लोम, पार्श्व, घ्राण,मूत्ररेतसी इत्यादि द्विपदी हैं। शिरोगुहा, उदरगुहा, वस्तिगुहा, ये चतुष्पदी के उदाहरण हैं। अष्ट प्रादेश अष्टपदो के उदाहरण है। नवप्राण नवपदी हैं और अणु-परमाणु अपरिमित विभाग के सहस्राक्षरी उदाहरण हैं। यह वाकशक्ति के क्रम का प्रसार ही है जो सृष्टि के रूप मे प्रगट होता है। स्वयभू से

उत्पन्न त्रयीवेद और परमेष्ठी से उत्पन्न अथर्ववेद के समन्वय से ही सृष्टि क्रम प्रारम्भ होता है और यह समष्टि मूलत अमृतवाक् और परमेष्ठिगत दिव्या वाक् की ही समष्टि है। इन दोनों वाक् विवर्त्तों मे शब्द और ध्वनि नहीं है। दोनो सूक्ष्म हैं।

ध्वनि के भी दो रूप बताये गये है। एक ध्वनि वह जिसमे प्रज्ञान जनित भक्ति [भाग] नही है अत वह अर्थ प्रगट करने मे असमथ है। दूसरी ध्वनि प्रज्ञान से युक्त वण, पद, वाक्यादि से विभक्त हे अत अथ प्रगट करने मे समथ होती है। अथ शून्य ध्वनि का आधार वायु है। इस वायव्या कहते है। इस वाक् मे स्वत गति नही होती परन्तु वायु के सम्ब न्ध से यह गतिमान बनी रहती है। इस वाक से होने वाले नाद, श्वास, व्यापार वायु के अनुग्रह से ही होते है किन्तु वे अथबोधन मे समथ नहीं हैं। इस वायव्या वाक् को सरस्वती भी कहते ह।

वायव्या वाक् का सम्बन्ध जब इन्द्र से हो जाता है तो वह अथ प्रगट करने लग जाती है। इन्द्र रूप प्रज्ञान से वह वर्ण, पद, वाक्यादि मे विभक्त होकर खण्ड-खण्ड हो जाती हे, व्याकृत हो जाता है। इसी वाक् को ऐन्द्री वाक् कहा जाता है। वायव्या वाक अव्याकृत है अर्थात् उसमे व्याकरण नही है, ऐन्द्री वाक व्याकृत है। पशु पक्षियो मे अव्याकृत वायव्या वाक ही व्यवहृत होती है। मनुष्यो मे ऐन्द्री वाक् का व्यवहार होता है। प्रज्ञान घन प्राज्ञ इन्द्र के प्रवेश से अखण्ड धरातल मय वाक् विवत्त विभक्त हो जाता है। इसी व्याकरण या विभक्तिकरण के ऐन्द्र कम से मानुषी ऐन्द्री वाक् वर्ण, पदादि खण्ड भावो मे परिणत होकर अथ को जननी बन जाती है।

वायव्या वाक् को सरस्वती बताया गया है जिसका तात्पय यह है कि यह वायु शिव भाव प्रधान बनता हुआ आप्य है। अप् तत्व का उद्भव परमेष्ठी है। वही सरस्वान् समुद्र कहा गया है और इसी से सरस्वती वाक् का सम्बन्ध है। वहा का आप्य वायु हस कहा गया है। पशुओं मे इसी हस वायु की प्रधानता रहती है जो शिवमय है। साम्ब सदाशिव का इसीलिय पशुपति कहा जाता है। हस को सरस्वती का वाहन भी इसीलिये कहा जाता है कि हस वायु ही उसकी गति है।

इस प्रकार अमृता, दिव्या, वायव्या और ऐन्द्रीभेद से वाक् के चार पदो का स्वरूप बनता है। मनुष्यो के व्यवहार मे आने वाली वाक् ही

लौकिक रूप मे प्रगट है। अन्य तीनो वाक् रूप गुहानिहित है। ऐन्द्री वाक् से ही अकार, ककारादि वर्ण विभक्त होते हैं और वही अर्थ प्रदान करत हैं। अनाहत नाद मे, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी मे, पशुओ मे, सरीसृपा म और सद्य जात बालक के रुदन मे जो वर्ण, विभक्ति रहित वाक् है वह वायव्या है जो अर्थ नही देती।

मनुष्य के व्यवहार मे आने वाली वाक की उत्पत्ति, उसका व्यव हार और उसके भेदो पर स्वतत्र निबध मे चर्चा की जायेगी। वाक् के इस स्वरूप का बोध किसी भाषा शास्त्र, व्याकरण शास्त्र या छन्द शास्त्र से नही होता और न ही उसकी महत्ता ही प्रगट होती है। इसी कारण इस प्रसग का उल्लेख करना आवश्यक समझा गया है। यह अतीव गभीर एव विस्तृत विज्ञान है, परन्तु सक्षेप मे एक झलक देने का प्रयास किया गया है।

वाग्देवी का स्वरूप-(3)

जिन भिन्न-भिन्न वाक् विवर्त्तों का परिचय अब तक दिया गया है, उससे वाग्देवी के मौलिक तात्त्विक और सूक्ष्म व्यापक रूप का तनिक ज्ञान हुआ होगा। अब उस वाक् का परिचय कर लेना है, जिसका हम जीवन मे नित्य व्यवहार करते हैं। यह भी वाक् चत्वारि के क्रम मे ही देखना होगा। वाक् चत्वारि के कई विवर्त्त है और सभी विवर्त्त चार भागो मे विभक्त हैं इसीलिए इसे वाक् चत्वारि अथवा चत्वारि वाक् कहा जाता है।

प्रत्येक वाक् विवर्त्त के अन्त मे जो चतुर्थ वाक् है वह ऐन्द्रीवाक् है जिसे व्याकृतावाक् भी कहा जाता है। व्याकृता वाक् वह है जो ज्ञानमूलक इन्द्र प्राण के सयोग मे खण्ड खण्ड हो जाती है, विभक्त हो जाती है अथवा व्याकृता बन जाती है। व्याकृता वाक् ही वर्ण, पद, वाक्य रूप मे व्यक्त होती है और यही इसका व्याकरण है। व्याकृता अथवा मानुषी वाक के चार भेद हैं जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी नाम से प्रसिद्ध है। ये चारो ही वाग्देविया व्यक्त हो अथवा अव्यक्त, ऐन्द्रीवाक् के रूप मे जानी जाती हैं और हमारे नित्य व्यवहार का माध्यम बनती हैं। ससार का कोई भी ज्ञान ऐसा नही है, जिसका सम्बन्ध शब्द से न हो और शब्द की जननी ये चारो वाक् है।

वेद विज्ञान मे बुद्धि को विज्ञानात्मा कहा गया है। बुद्धि का स्रोत इन्द्र अथवा सूर्य है। बुद्धि मे जो वाक् निहित है उसे परावाक् कहा जाता है। मनोयोग पूर्वक मौनभाव से पुस्तक पढते हुए जो अन्तश्च-वर्णात्मिका शब्दानुगता वाक् है वही पश्यन्ती वाक् है। नाद-ध्वनि किये बिना श्वास मात्र के आधार पर कानाफसी के रूप मे प्रगट होने वाली वाक् मध्यमा वाक् है और नाद-ध्वनि युक्ता सुदूर ग्राह्य वाक् ही

लौकिक रूप मे प्रगट है। अन्य तीनों वाक् रूप गुहानिहित है। ऐन्द्री वाक् से ही अकार, ककारादि वर्ण विभक्त होते है और वही अर्थ प्रदान करते हैं। अनाहत नाद मे, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी मे, पशुओं मे, सरीसृपों मे और सद्य जात बालक के रुदन मे जो वर्ण, विभक्ति रहित वाक् है वह वायव्या है जो अर्थ नही देती।

मनुष्य के व्यवहार मे आने वाली वाक की उत्पत्ति, उसका व्यवहार और उसके भेदो पर स्वतन्त्र निबध मे चर्चा की जायेगी। वाक् के इस स्वरूप का बोध किसी भाषा शास्त्र, व्याकरण शास्त्र या छन्द शास्त्र से नही होता और न ही उसकी महत्ता ही प्रगट होती है। इसी कारण इस प्रसग का उल्लेख करना आवश्यक समझा गया है। यह अतीव गभीर एव विस्तृत विज्ञान है, परन्तु सक्षेप में एक झलक देने का प्रयास किया गया है।

--❖□❖--

वाग्देवी का स्वरूप-(3)

जिन भिन्न-भिन्न वाक् विवर्त्तों का परिचय अब तक दिया गया है, उससे वाग्देवी के मौलिक तात्विक और सूक्ष्म व्यापक रूप का तनिक ज्ञान हुआ होगा। अब उस वाक् का परिचय कर लेना है, जिसका हम जीवन मे नित्य व्यवहार करते है। यह भी वाक् चत्वारि के क्रम मे ही देखना होगा। वाक् चत्वारि के कई विवत्त हैं और सभी विवत्त चार भागो मे विभक्त हैं इसलिए इसे वाक् चत्वारि अथवा चत्वारि वाक कहा जाता है।

प्रत्येक वाक् विवत्त के अन्त मे जो चतुथ वाक है वह ऐन्द्रीवाक् है जिसे व्याकृतावाक् भी कहा जाता है। व्याकृता वाक् वह है जो ज्ञानमूलक इन्द्र प्राण के सयोग मे खण्ड-खण्ड हो जाती है, विभक्त हो जाती है अथवा व्याकृता बन जाती है। व्याकृता वाक् ही वण, पद, वाक्य रूप मे व्यक्त होती है और यही इसका व्याकरण है। व्याकृता अथवा मानुषी वाक के चार भेद है जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी नाम से प्रसिद्ध है। ये चारो ही वाग्देविया व्यक्त हो अथवा अव्यक्त, ऐन्द्रीवाक् के रूप मे जानी जाती हैं और हमारे नित्य व्यवहार का माध्यम बनती हैं। ससार का कोई भी ज्ञान ऐसा नही है, जिसका सम्बन्ध शब्द से न हो और शब्द की जननी ये चारो वाक् है।

वेद विज्ञान मे बुद्धि को विज्ञानात्मा कहा गया है। बुद्धि का स्रोत इन्द्र अथवा सूय है। बुद्धि मे जो वाक निहित है उसे परावाक् कहा जाता है। मनोयोग पूवक मौनभाव से पुस्तक पढते हुए जो अन्तश्च-वर्णात्मिका शब्दानुगता वाक् है वही पश्यन्ती वाक् है। नाद-ध्वनि किये बिना श्वास मात्र के आधार पर कानाफसी के रूप मे प्रगट होने वाली वाक् मध्यमा वाक् है और नाद ध्वनि युक्ता सुदूर ग्राह्य वाक् ही

वैखरी वाक् है। इन चारा से पून के तीन वाक् रूपो का बोध नही होता। वैखरी वाक ही बाघगम्या वाक है। इन चारा वाक् शक्तियो के लिए कहा गया हे —

वैखरी शब्द निष्पत्तिमध्यमाश्रुति गाचरा
द्यालितार्थाऽनु पश्यन्ती, सूक्ष्मा वागनपायिनो

वैखरी वाक् के पुन चार विवत्त वनते है। वैखरी वाक का उच्चारण किया जा सकता है। पशु-पक्षियो मे जो ध्वनि वाक है उसमे इन्द्र तत्व नही है अत वह अव्याकृता वाक है। यह स्थूल स्पष्टीकरण है। वैसे ससार का कोई भी पदाथ इन्द्र तत्व से सवथा रहित नही है, परन्तु ध्वनि वाक् मे इन्द्र तत्व अल्प माना मे ह अत वह ध्वनि का व्याकरण नही कर सकता। इन्द्र तत्व के प्रभूत माना मे पविष्ट हाने पर वाक का व्याकरण किंवा विभक्तीकरण हो जाता है। वैखरीवाक् का यही स्वरूप है।

वैखरी वाक् का प्रयोग करने वाली प्रजा को मनुष्य, पशु, पक्षी एव क्षुद्रसरीसृप नाम से चार भेदो मे बाटा जा सकता है। मनुष्य मे वह पूण रूप से विकसित हुई है। अ य प्रजा वर्गा म वह क्रमश एक चाथाई कटती गई है। मानुषा वाक को निरुक्त मनुष्य वाक् कहा गया है, जबकि अन्य वर्गों की वाक् को अनिरुक्त पशु वाक् अनिरुक्त पक्षी वाक् आर अनिरक्त क्षुद्रसरीसृप वाक् कहा गया ह।

निरुक्तमनुष्य वाक् के भी चार विवत्त हैं। ये चार विवत्त हैं प्राण, स्वर, वण एव ध्वनि। वर्णों का उत्पत्ति की व्याख्या करन वाले शिक्षा शास्त्र मे यह सिद्धात स्थापित किया है कि मनुष्य जब कुछ बोलना चाहता है तो इस कामना मे आत्मा, बुद्धि, मन तीनो का सहयोग हाता है। सकल्पित वाच्याथ को स्पष्ट करने के लिए मन की कामना का शारीराग्नि पर आघात होता है और इस आहत शारीराग्नि से कायिक वायु को प्ररणा का वल मिलता है। यह वायु उरस्थान का आघात पाकर स्वर को उत्पत्ति करता ह। यहा स्वर शिरा प्रदेश मे टकरा कर मुख विवर म आते आते वण रूप धारण कर लता है। पाणिनीय शिक्षा मे कहा है —

आत्माबुद्धया समेत्यार्थान् मनायुङ्क्ते विवक्षया।
मन कायाग्निमाहन्ति स प्ररयति मारुतम्।

माग्नस्त्रमि चरन मन्द्र जनयति स्वरम ।
सादीर्णो मूध्र्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुत ।
वर्णान् जनयते, तेपा विभाग पचधा स्मृत

कायाग्नि के आघात मे नाभि प्रदेश के ऊपर उठा हुआ वायु उर-स्थान से टकराने से पहिले अपनी विशुद्ध प्राणावस्था मे रहता है। यही प्राणवाक् रूपी पहिली अवस्था है। मुख विवर मे आने से पहले यह स्वर वाक् के रूप मे उर कण्ठ और शिर प्रदेश मे रहता है। मुख विवर मे पहुचते हुए यह स्वर स्वरत, कालत, स्थानत, प्रयत्नत इत्यादि अवस्थाओ म होकर पाच भागो, पचास विभागो और चौसठ रूपो मे परिणत होकर वर्ण का रूप धारण करता है। यहा वर्ण नाम की तीसरी अवस्था है। वर्ण ही आगे चलकर षड्ज, ऋषभ गान्धार, मध्यम, पचम, धैवत और निषाद रूप मे ध्वनि का रूप ले लेता है जिसे हम सरगम के रूप म जानते हैं और जो श्रुति मूलक है। यही ध्वनि वाक् नाम की चतुर्थ अवस्था है। प्राण मे प्रारम्भ होने वाले चारो वाग्विवर्तो के चार स्तम्भ बन जाते हैं। प्राण एक स्तरीय है, स्वर द्विस्तरीय, वर्ण, त्रिस्तरीय और ध्वनि चारस्तरीय वाक् है। एक स्तर मे दूसरे का विकास होता है। यही 'चत्वारिवाक् परिमिता पदानि" कही जाती है।

चतुर्थवाक् ध्वनि रूप है वही आघात स्वरूप है। हम यदि कोई वर्ण समूह मय वाक्य बोलते ह तो दूरस्थ व्यक्ति उसका अर्थ भले ही न समझे, उसकी श्रुतियो मे ध्वनि अवश्य पहुच जायगी परन्तु निकटस्थ व्यक्ति को जो स्पष्ट अर्थ बोध होगा, उसका कारण भी ध्वनि ही है। ध्वनि का सीधा सम्बन्ध स्वर से है, वर्ण से नही है। कानाफूसी मे वर्णों का प्रयोग तो होता है परन्तु ध्वनि का नही अत वह बोधगम्य नही होती। स्वर मे ध्वनि का समावेश होते ही वह बोधगम्य हो जाती है। काना-फसी को भी उपाशुवाक् कहा गया है। उसका प्रभाव सीमित है। यह वाक् का ऐसा रूप है कि ध्वनि के बिना भी वर्णों का एक सीमित प्रयोग हो सकता है।

ध्वनि स्वरानुगामिनी है। इसके भी दो भेद हैं। एक स्वर ध्वनि दूसरी स्फोट ध्वनि है। उच्चारण मे सकोच एव विकास से युक्त वाक ही स्वर वाक् है। उच्चारण मे मुख, तालु, मूर्धा, कण्ठ, ओष्ठ आदि का

सकोच और विकास होता रहता है। इसी से एक स्वर से अनेक वण बन जाते है। ऐतरेय श्रुति मे कहा गया है "अकारो वै सर्वावाक्" अर्थात अकार स्वर से ही सभी वण बने है। इसमे जो ध्वनि है वही स्वरध्वनि है। इसके अतिरिक्त वण, पद, वाक्य श्लोकादि के श्रवण से हमे जो सामूहिक अथ बोध होता है, वही व्याकरण मे स्फोट कहा गया है। इसका नभ्य प्राण से सम्बन्ध है। अखण्ड धरातल मय नभ्य प्राण पर आधारित होने के कारण ही वण परस्पर मिश्रित नही होते। वण, पद, वाक्य अलग-अलग बनते बने रहते है और अथ बोध कराते है।

वखरीवाक् के फिर चार विवत्त बनते रहते हैं जो वण, अक्षर, पद और वाक्य रूप मे सामने आते है। इन्ही को ऐन्द्र व्याकरण कहा जाता है। व्यजन वण वाक् है। यह अनुष्टुप है। स्वर अक्षर वाक् है। वह वृहती कहलाती है अर्थात् सौर मण्डल के सात छन्दो मे से एक वृहती छद से उत्पन्न होती है। सौर मण्डल मे व्याप्त सात वृत्त अथवा छ द ही सूय के सात घोड कहलाये है। इनमे मध्य का वृहती या विषुवत् वत्त बडा वृत्त ह। छ द और वृत्त समानाथक ह। वृहती वाक से ही स्वर उत्पन्न होता ह। अनुष्टुप् पृथ्वी के निकटस्थ वृत्त है। यह गायत्री छ द है। व्यजन वाक् का सम्बन्ध अनुष्टुप से ह। अक्षरो का योग ही पदवाक् है और पदो की समष्टि ही वाक्य वाक् है। अथ बोध कराने वाली वाक वाक्य वाक् ही है। अपनी वात को समझाने के लिए हम वाक्यो का ही प्रयाग करते है।

वण वाक् के भी चार विवत्त बन जाते ह। इन्हे अस्पृष्ट, ईषत स्पृष्ट, स्पृष्ट एव अद्ध स्पष्ट नाम से जाना जाता है। स्वरवाक् वहती छद नवाक्षर है अत स्वर मे भी नव विन्दु होते है अर्थात स्वर का प्रसार नव व्यजनो के बराबर होता है। इनमे से दो विन्दुओ पर तो स्वर स्वय प्रतिष्ठित रहता है। शेष सात विन्दुओ पर वह सात व्यजनो को बिठा सकता है। तीसरी वाक पद वाक् है। इसके भी चार विवत्त है जो नाम, आख्यात, उपसग और निपात रूप मे जाने जाते ह। इसकी भी चार अवस्थाए है। नाभि स्थान इसका प्रभव है। उर, कण्ठ और शिर इसका प्रक्रम स्थल है। मुख इसका तीसरा पद है और श्रोत्र स्थान इसका चौथा पद है। यह वाक् नाभि से उत्पन्न होकर कानो तक पहुचने मे चार ।।।।।। को पूरा करती है।

महर्षि ऐतरेय ने वाक का एक रूप महदुक्थ बताया है। इसके भी चार विवत्त–मित, अमित, स्वर और सत्यानृत नाम से है। यह गद्य, पद्य और गेय रूप मे व्यवहार मे आने वाली वाक् शैली है। छन्दो बद्धा सीमाभावयुक्ता वाक पद्य है। [इसी सीमाभाव के कारण इस पद्यात्मिका वाक को मितवाक् कहा गया है। वैदिक साहित्य मे यह वाक् ऋक, गाथा और कुम्व्या रूप मे तीन भागो मे विभक्त है। मत्र, श्लोक और आचरण शिक्षा के लिए इसका प्रयोग होता है।

गद्य को अमित वाक कहा गया है। इसके तीन विवर्त्त यजु, निगद और वथा नाम से बताये गये है। अथवादात्मक वचन निगद मन ब्राह्मण ग्रथो मे समाविष्ट हैं। हास-परिहास मे प्रयुक्त वाक वृथा वाक् है। सरल रूप मे व्यवहार मे आने वाली यजुवाक् है।

सीमित भी और वितत भी जो वाक् है वह गेयवाक् है। शब्दो मे यह सीमित है परन्तु गेय रूप मे स्वर का वितान करके असीमित भी है। यही सामगान एव लोक सगीत की प्रतिष्ठा है।

वाग्देवी के भिन्न रूपो का सक्षेप मे उल्लेख किया गया है। इसका विस्तार अनन्त है। सक्षेप मे इसे समझाना दुष्कर है परन्तु इसके विराट् रूप की अनुभूति अवश्य कराई जा सकती है।

अन्त मे मानुषी वाक् परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी पर एक दृष्टि फिर डालना उचित होगा। परावाक् वह है जो केवल बुद्धि मे निहित रहती है। पश्यन्ती वह है जो प्राण व्यापार मे रत होती है और पठन, लखन, वाचन के प्रयोग मे आती है। मध्यमा वाक् ध्वनि रहित परन्तु स्वर युक्त होती है जो कानाफूसी तक सीमित रहती है और वैखरी वाक् नादात्मक है जो वाक्य रूप मे मुख से प्रगट होती है। इसमे आत्मा, बुद्धि, मन और वक्त्र सभी का समन्वय रहता है।

वाक्शक्ति मूलत मनोमयी, प्राणमयी, वाङ्मयी है। आत्मा का स्वरूप भी मन, प्राण वाक् की समष्टि है। वाक् और आत्मा के मौलिक स्वरूप मे इतना साम्य है कि शब्द को ब्रह्म कहा गया है। वाक् को सृष्टि का प्रवर्तक तत्व माना गया है। शब्द और अर्थ दोनो का मूल भी एक है। इसी कारण ऋषियो ने सब शब्दो को सब अर्थों

का वाचक बताया है। कहा गया है सर्वे सर्वाथ वाचका [पाणिनि] घडे का अथ घडी और घोडा भी हो सकता है। वाक्शक्ति की यहा व्यापकता ह महत्ता है परन्तु हम क्षुद्रज्ञान बाला को यह विश्वसनाय प्रतीत नही होता। हम घडे का अथ पानी का घडा ही करते है क्याकि पूवजो ने हमे यही नियत अर्थ समझाया है और लोक व्यवहार म यही सुविधाजनक भी हैं। हम यह नही जानते घट मे पट, तन्तु, सून, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इत्यादि सभी तत्व समाविष्ट ह हम नही जानते कि घट भी वाक् तत्व से उत्पन्न हुआ है और इस शब्द का जा अथ है वह भी वाग्देवी के ही अनुग्रह से प्राप्त है। हम भाषा, शास्त्र, व्याकरण आदि पुस्तको मे आज जो पढ रहे है, वह अतीव क्षुद्र ज्ञान है। इसीलिए मै अनुरोध करता हु कि वेद ही हमारी शिक्षा नीति का आधार होना चाहिए। इसके बिना हमारी गति नही हैं। यदि इस दश का वास्तव मे उत्थान करना है तो हमे वेद की शरण मे आना हा पडेगा अन्यथा कोई भी उपाय हमे दुगति से नही उबार सकता। वद ही सम्पूण ज्ञान का आधार है। वेद के बाहर कोई ज्ञान नही है।

अन्त मे दो शब्द इस वाक् तत्व के सम्बन्ध मे स्वतन रूप से लिखना चाहूगा। जिस विश्व मे हम लोग रहते है वह पचपर्वा है अर्थात् इसके पाच पव स्वयभू, परमेष्ठी, सूय, चन्द्र और पृथ्वी हैं। सूय इस विश्व का मध्यस्थ है जिसका अद्धभाग अमृतमय एव अद्धभाग मत्य है। हमारी सृष्टि मत्य है और इधर जो अद्धभाग सूय का है वह मत्य भाग है। सूय से ऊपर जो दा बृहत् लोक स्वयभू और परमेष्ठी हैं वे अमृतमय एव अव्यक्त है। सूय का ऊघ्व भाग भी अमृतमय है। यह सम्पूण विश्व वैदिक भाषा मे क्षर प्रधान है। इसके ऊपर अक्षर और अव्यय नाम से दो विवत्त और है। अव्यय सभी का आलम्बन है आर अक्षर का विकास भी इसी से होता हे और अक्षर से ही क्षर का विकास होता ह जो अन्तत वैकारिक विश्व के रूप मे परिणत होता है।

अव्यय की पाच कलाए बताई गई हैं जो आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् नाम से जानी जाती हैं। मन इनमे मध्यस्थ है। मन जब आनन्द विज्ञान कलाओ से सयुक्त होता है तो मुमुक्षु अर्थात् मुक्तिगामी बन जाता है और वही जब प्राण-वाक् से सयुक्त रहता है सिमृक्षा अर्थात् सृष्टि मे प्रवृत्त हो जाता है। मन प्राण-वाक् की समष्टि ही

आत्मा है । प्राण वाक् कलाओ से अक्षर का विकास होता है । क्षर की पाच कलायें हैं, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और साम । अक्षर का ही मूल प्रकृति कहा गया है जो आगे चलकर विकार क्षर का विकास करती है । क्षर की भी पाच कलाये बताई गई हैं, जो प्राण, आप, वाक्, अन्न और अन्नाद नाम निरूपित है । हमारे पचपर्वा विश्व मे आदि स्रोत जो स्वयभू लोक है वह स्थिर है । अत ब्रह्मा का प्रतीक कहा गया है यही प्राणो का लोक है । परमेष्ठिलोक ही विष्णु है । इसी से अग्नि और सोम नामक सृष्टि कारक तत्व उद्भूत होते हैं । इसी से सूय का उद्भव होता है और अग्रेतर सृष्टि का क्रम चलता है । यही आप लोक है । सूय को इन्द्र कहा जाता है । यही बुद्धि का प्रदाता है । चन्द्रमा साम का विकास है और पृथ्वी अग्नि का । यही अन्न और अन्नाद है । मूलत ये सभी पव वाक् तत्व से ही विकसित होते है । ऋक् यजु साम आर अथव नाम से विख्यात जो वेद है वे भी वाक् तत्व से ही उत्पन्न होते है जो अग्नि । वायु, आदित्य [इन्द्र] और साम नाम से विख्यात है । वेद का यही मौलिक स्वरूप है । जिन वदा को हम जानते है वे ग्रथ शब्द वेद हैं । मूलत वेद कोई पुस्तक नही है, तत्व हैं । यही तत्व वद आर शब्द वेद का भेद है । ये सभी वाक् तत्व से उद्भूत है । यह वाक् तत्व अव्यक्त रूप से सम्पूण विश्व मे व्याप्त है । वखरी वाणी उसका ही व्यक्त रूप है । वाग्देवी को शत–शत प्रणाम ।

-●-

तीन-पाच का विधान

एक लोकोक्ति से हम सभी परिचित हैं। किसी कार्य मे अनुचित हस्तक्षेप के विरोध मे हम बहुधा कहा करते है "तीन पाच मत करो या यो "तीन पाच कर रहे हो" प० मोतीलाल शास्त्री ने इस रहस्य को अत्यन्त ही शिक्षाप्रद एव रोमाचक ढग से खोला है। उनके मत मे तीन पाच करना ईश्वर का काम है, जिसमे किसी को हस्तक्षेप नही करना चाहिए अथवा तीन पाच कोई ऐसा तत्व है जिसे शिरोधार्य करना ही चाहिए। उस पर टीका-टिप्पणी करना उचित नही।

तीन-पाच वाली लोकोक्ति का आधार सृष्टि रचना मे ढूढा जा सकता है हमारे इस विश्व की रचना मे तीन और पाच के बडे विवर्त है। यह विश्व स्वय पच पर्वा है जिसके पाच पर्व हैं स्वयभू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा और पृथ्वी। सूर्य इसका मध्यस्थ है। स्वयभू प्राणो का लोक है और परमेष्ठी अग्नि सोम युक्त भृगु अगिरा मय लोक हैं। दोनो अव्यक्त हैं। सूर्य-चन्द्रमा और पृथ्वी व्यक्त है, स्थूल रूप मे हैं। इसी आधार पर विश्व मे और हमारे शरीर मे तीन-तीन और पाच-पाच के कितने ही विवर्त बने हुए हैं।

हमारे शरीर मे भी पाच पर्व बने हुए हैं जिनका अपना पृथक् महत्व है। शीर्षस्थ ब्रह्मरन्ध्र से लेकर कण्ठ तक एक पर्व है। कण्ठ से मल-द्वार तक दूसरा पर्व है, मूल द्वार से घुटना तक तीसरा पर्व है, घुटना से पादमूल तक चौथा पर्व है और पाद पर्व अन्तिम और पचम है। इन पाचो पर्वों के पुन पाच विभाग हैं। उदाहरण के रूप मे दूसरे पर्व को लें। ग्रीवा से पेट तक पहिला विभाग है, पसुली पसलियां (दूसरा) विभाग है, पेट उरू तक तीसरा विभाग श्रोणी फलक (कूल्हे) चौथा विभाग है त्रिकास्थि पाचवां विभाग है, जिसमे मलद्वार और मूत्र इनमें सम्मिलित

है। यह अस्थिमय त्रिकोण है जो कबन्ध और जया द्वय की भी प्रतिष्ठा है। यही सम्पूर्ण शरीर की भी प्रतिष्ठा है। इसी मे वैश्वानर की प्रतिष्ठा वस्तिगुहा भी स्थित है। शरीर मे पाच ज्ञानेन्द्रिया, पाच कर्मेन्द्रिया, पच प्राण पचभूत, पचतन्मात्राये इत्यादि भेद से यह अध्यात्म सस्था पच पर्वा बनी हुई है। इसी प्रकार तीन प्राण तीन गुण (सत–रज–तम), मन, प्राण, वाक स्वरूप कर्मादि त्रिवत के उदाहरण है। शरीर के अग-प्रत्यग मे यह त्रिपच व्यवस्था विद्यमान है। हमारे कर्मो का सपादन अधिकाशत हाथ से होता है। इसका ही विश्लेषण करें तो प्राड्तन विश्व का स्वरूप प्रगट हो जायेगा।

शरीर के अ य अगो की अपेक्षा कर्मान्वय हमारे हाथो मे सबसे अधिक विकसित हुआ है। इसका गठन भी वैसा ही बन पडा है। कौषीतिकीय उपनिषद् म हाथ के लिए कहा गया है —

> हस्तावेवास्या एकमङ्गमदूहले
> तमोमम एव परस्तात् प्रतिविहित भूतमात्रा

तीन पाच की जो व्यवस्था हाथो मे देखी जा सकती है वह अन्य अगो मे इतनी स्पष्ट नही है। हमारे हाथ मे अगुलिया पाच है तो अगुलियो के पव (पोरे) तीन तीन है। यही यानि पचधात्रीणि का विधान है। अगुलियो के नाम भी एक विशिष्ट आधार पर रखे गए है। सबसे छोटी अगुली कनिष्ठिका, इसके बाद अनामिका, इसके बाद मध्यमा इसके बाद तर्जनी और सबसे ऊपर अगुष्ठ है। इन नामो का एक रहस्य है।

हमारे विश्व का प्रथम पर्व स्वयभू है। यह स्थित है, अविचाली है और ब्रह्मत्रयी से युक्त है। यही कममय विश्व का आधार है परन्तु कम से असग बना रहता है, अव्यक्त है। स्वयभू पर कम मय विश्व की सीमा समाप्त है। हमारा अगुष्ठ इसी स्वयभू की प्रतिकृति है। अगुष्ठ दूसरी अगुलियो से स्थूल और बलिष्ठ है, विशाल है। स्वयभू के साथ इसकी यह प्रथम समानता है। अगुष्ठ स्वतन्त्र रूप से कतई कर्म नही करता। वह अन्य अगुलिया का सहायक मात्र है। दूसरी समानता है। जब हमे कोई काम करने से मना कर देता है तो हम कहते है "अरे! उसने तो अगूठा दिखा दिया"। कारण यही कि स्वयभू पर कम का अवसान हो जाता है वह आधार भूत होते भी कम से निस्सग है, पृथक् है। कहा गया

है "अगुण्ठ मात्र पुरुपो हि मदा जनाना हृदि मन्निनिष्ट इसका आशय है कि सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त जो चिदश है, उसे एकत्र करने पर "अगुष्ठ परिमाण रह जाना है। प्रयाण वेला मे भी हमारा कर्मात्मा देह स निकल कर अगुष्ठ मात्र हो, परलोक मे विचरण करता है। वह पुरुप का ही अश होता है। पुरुप का अर्थ यहा ईश्वर है और ईश्वर का ही प्रथम प्रवर्ग्याश स्वयभू लोक है। अगुष्ठ उसकी प्रतिकृति है। पच प्रकृति सम्बन्ध से हाथो के पाचो पर्वों को वसे पचागुलभ कहा जाता है, परन्तु अगुष्ठ पर स्वतन्त्र दृष्टि डालने से वह पु सत्व भाव का प्रतीक बनता है और पुरुप भाव का द्योतक बन जाता है।

अगुष्ठ के बाद तजनी अगुली है। इसे तजनी इसीलिए कहा जाता है कि तजन या डाट फटकार के लिए ही इसका उपयाग किया जाता है। ऐसा क्यो? इसके लिए शरीर रचना विज्ञान मे बताया गया है कि तजनी अगुली परमेष्ठिलाक के तत्त्वो से युक्त होती है। परमेष्ठी का स्थान इस पच पर्वा विश्व मे दूसरा है। यह जहा भृगु एव अगिरा प्राणो का आधार है वही असुर पितर प्राणो का आवास भी है। असुर प्राण दिव्य कार्यो एव दिव्य भावो का विरोधी है। यह क्लेश का प्रवर्तक है। तजन कम का अधिष्ठाता है। तजनी अगुली इसी की प्रतिकृति है। इसम परमेष्ठी के सम्बन्ध स असुर प्राण का निवास है। दिव्य कर्मों मे इस अगुली को अलग रखा जाता है। जप करने तिलक लगाने आदि कार्यो म इसको अलग रखा जाता है। योगीजन जब पदमासन लगाते ह तो इस अगुली को अगुष्ठ के नीचे दबा दिया जाता है। शेप तीन अ गुलियो का सीधी रखा जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से तो इस अगुली मे दन्त मजन भी नही करना चाहिए। इसमे वरुण प्राणो का समावेश रहता है जो कि त्रिपले माने जाते हैं। वरुण परमेष्ठी से ही उद्‌भव है। क्लेशताडन, तजन, भत्सर्नादि सभी कठोर भावो की अभिव्यक्ति इस अगुली से की जाती है। इस अ गुलि मे ही पितर प्राणो का निवास है। अत श्राद्ध पक्ष मे या अन्य अ य अवसरो पर भोजन करने वाले ब्राह्मणो या पाहुनो का तिलक लगाते समय इस अ गुलि का अ यथा प्रयाग किया जाता है। तिलक मे अनामिका का प्रयोग किया जाता है।

तजनी के बाद मध्यमा अगुली है। मध्य मे होने के कारण भी इसे मा कहा जाता है और सौर प्राणो से युक्त होने के कारण भी इसे

मध्यम कहा जाता है। पचपर्वा विश्व का मध्य सूय है। मध्यमा का इसी मे सम्बन्ध है। यह ज्येष्ठा भी ग्रार श्रेष्ठा भी। इस व्याप्त विश्व मे ग्रर्थात् रोदसी त्रिलोकी मे सवसे वडा ग्रह या लाक सूय है ग्रौर श्रेष्ठ भी। मध्यमा भी मध्यस्थ ह, ज्येष्ठा है, श्रेष्ठा है। भौतिक ज्योति का प्रथम प्रकाश सूय स ही होना है। व्यक्त विश्व प्रथम वार इसी से व्यक्त हाता है। सूय ही सृष्टि का प्रतोक है ग्रौर इसका ग्रभाव ही प्रलय है। इसे इन्द्र कहा जाना है ग्रार सभी देव मे श्रेष्ठ माना जाता है। चराचर के सम्पूण काय कलाप का साक्षी सूय है जो मध्यस्थ है। इसके लिए कहा गया है —

"नैवोदेता नास्तमेता मध्ये एकल एव स्थाक्त" सृष्टि मे यह सभी लोको से वडा ग्रत वृहद्धतस्थौ भुवने स्वन्त कहा गया है।" इसी से सूय का वृहत् भी कहा जाता है। यही स्वरूप मध्यमा ग्रगुली का है। यह स्वतन्त्र रूप मे कोई काम नही करती परन्तु ग्रन्य सभी ग्रगुलियो के कामो मे सहायक वनी रहती है। यह सव की साक्षी है।

ग्रनामिका का सम्बन्ध चन्द्रमा से है। चन्द्रमा सोममय है, जो ग्रग्नि का ग्रन्न माना गया है। ग्रन्न रजरूप हाने से यह ग्रग्नि मे भुक्त हो जाता है ग्रत उसकी स्वतन्त्र सत्ता नही रहती। चन्द्रमा ज्योति रूप मे भी स्वतन्त्र नही है। उसे सूय स ज्योति प्राप्त हाती है, ग्रत वह परज्योति माना जाता है। सामप्रधान हाने के कारण चन्द्रमा ग्रमृतमय है। ग्रनामिका मे ग्रमृत प्राणा का समावेश माना जाता है ग्रत दिव्य कार्यों मे तिलकादि कर्मों मे उसका उपयाग किया जाता ह। ग्रन्न स्वरूप होने के कारण ग्रर्थात् स्वतन्त्र सत्ता न हाने कारण ही इसे ग्रनामिका कहा जाता है। कहा गया है "ग्रनया वै भेषज क्रियते" ग्राशय यह है कि वच्चो को ग्रौषधि देते समय ग्रनामिका का प्रयोग किया जाना चाहिये। गोपथ श्रुति मे कहा गया है "यद् भेपज तदमृतम" इससे चिकित्सा मे निरोगता की प्राप्ति होती हे।

पाचवी ग्रौर सबसे छोटी ग्रगुलि कनिष्ठिका है। इसे भूमि का प्रतीक माना जाता है। विश्व रूपी विराट् पुरुष के चरण के रूप मे भूपिण्ड माना गया है। कनिष्ठिका भी हाथ की ग्राखरी ग्रगुली है। विश्व का सबसे छाटा पव चन्द्रमा है, परन्तु चूकि यह पृथ्वी का ही उपग्रह है ग्रत सृष्टि दृष्टि से भूपिण्ड ही छोटा पव माना गया है।

हाथ की उपयु क्त रचना से एक बात यह भी स्पष्ट हो जाती है कि मूलत कोई भी विश्व पत्र या हाथ की कोई भी अगुली नितान्त स्वत त्र नही है। सभी परस्पर सम्बद्ध है और सब मिलकर ही एक कम का सपादन करती है।

पचात्मक विवर्तो की ही भाति हमारे शरीर मे कितने ही त्रिवत भी हैं। प्राण, अपान और वायु का एक त्रिवृत है तो वात, पित्त कफ का दूसरा त्रिवृत है। अग्नि, वायु आदित्य के भिन्न विवत्त हैं। कहने का आशय यही है कि तोन और पाच के अको का सृष्टि एव शरीर मे एक विशिष्ट महत्व है। तान-पाच का लोकोक्ति का आधार यही है।

ऊपर पाचो अगुलियो भी जो भिन्न भिन्न प्रकृतिया बताई गई है, उनके साथ सम्पूण शरोर की रचना का समन्वय भो किया गया हे। शरोर शास्त्र के आधुनिक वज्ञानिको के लिए भी यह अध्ययन का विषय है। हमारे ऋषियो ने शरीर के विज्ञान मे अन्त प्रकृति एव बहि प्रकृति दानो का समन्वय करके देखा है और यह भी माना है कि शरीर अपनी अन्त प्रकृति से ही सचालित होता है। ऋषिया ने यह भी माना हे कि शरीरऔर आत्मा पृथक् पृथक् है किन्तु आत्मा को एक व्यापक तत्व के रूप मे भा माना है। अत वह शरीर मे भी व्याप्त है और उसके बाहर भी। सृष्टि की रचना का विज्ञान इस प्रकार निरूपित है जा अण्ड म है, वही ब्रह्माण्ड म है। इसके लिए यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि अणारणीयान्, महतोमही यान्। अश और अशी दाना एक ही हैं।

जो गम्भीर चिन्तन मननशील वज्ञानिक है, उन्हे वेद के सृष्टि विज्ञान-पर विचार करना होगा। हो सकता है कितने ही सिद्धान्तो मे उलट फेर हो जाय, जो सामान्य अनुमान या कल्पना पर आधारित है। वेद विज्ञान अनुमान या कल्पना पर आधारित नही है। वह ऋषि दृष्टि से उद्भूत है। वह दृष्टि जो अग जग के पार देख सकती हे, जिसकी थाह हम साधारण मनुष्य नही पा सकते हैं। अपनी श्रद्धा से ही उसका लाभ हम उठा सकते है।

मै उन वैज्ञानिको की बात नही करता जो गाय और भैस के दूध का भेद केवल वसा की मात्रा का मानते है। मैं उन वज्ञानिको का आह्वान करता हू जो सत्या वपण मे रत है परन्तु केवल पदार्थ को ही खोज का आधार मानते हैं। उन्हे वेद विज्ञान का आश्रय लेना होगा।

—

एक वर्ष की यात्रा

अब तक छपे हुए लेख 'राजस्थान पत्रिका' दैनिक मे विज्ञानवार्ता स्तम्भ मे क्रमिक रूप से छपे थे। विज्ञानवार्ता स्तम्भ को चलते हुए जब एक वर्ष से अधिक हो गया तो मैंने लिखा था 'एक दैनिक समाचार पत्र' के लिए और मेरे लिए भी यह नया ही अनुभव था। इस बीच कुछेक रचनाओ को छोडकर मैं नियमित रूप से विज्ञान मूलक वेद वार्ता करता रहा हू। मेरी लिखित सामग्री का एकमात्र आधार प मोतीलाल शास्त्री द्वारा प्रणीत वेद ग्रन्थ हैं जो उन्होने अपने पूज्य गुरु मधुसूदनजी ओझा से प्राप्त शिक्षा के परिणाम स्वरूप रचे।

एक वर्ष की अल्पावधि मे मैंने कितने ही गम्भीर वैज्ञानिक विषयो को पाठको के सामने सक्षेप मे प्रस्तुत किया। सृष्टि का उद्गम और विकास ईश्वर का स्वरूप, जीव की रचना, सृष्टि के मूल तत्व, धूमकेतु, वायु के विभिन्न स्वरूप, वाग्देवी, सवत्सर ऋतु रचना, अन्न-यज्ञ, यज्ञ का स्वरूप अग्नि-सोम विद्या, वेद का तात्विक तथा शाब्दिक-रूप, ईश्वर और जीव का समन्वय, योषा-वृषा तत्व, अहोरात्र, विज्ञान की वैदिक परिभाषा व पहचान, पच पर्वा विश्व, माया और माया बल गगाजल, इत्यादि विषयों के भिन्न-भिन्न पहलुओ पर आशिक रूप से चर्चा की जा चुकी है।

इस चर्चा मे कितनी ही ऐसी जानकारी सामने आई जो कि सामान्य जन के लिए ही नही अपितु विद्वज्जनो के लिए भी नई थी। विज्ञान के आधार पर यह कह देना कि मानव शरीर की लम्बाई उसकी 84 अगुलियो के बराबर होती है, एक विस्मयकारी तथ्य है। जीव योनिया 84 लाख ह और उनके निर्माण 28 धनात्मक सहपिण्डा एव 56 ऋणात्मक सहपिण्डो के आधार महत् तत्व के समन्वय से होता है। हमारे शरीर मे 24 पसलिया सवत्सर मण्डल के एक गोलार्द्ध के 24 अशो की

ही प्रतिकृति है। स्त्री-पुरुष मिलकर सवत्सर का स्वरूप ही प्रकट करते है। दोनो शरीरो की 48 पसलिया ही सवत्सर मण्डल की मध्य रेखा के उत्तर-दक्षिण के 48 अशो की प्रतिकृति हैं और मेरुदण्ड ही विषुवत् वृत्त का मूत रूप है। सवत्सर मे ही सृष्टि एव ऋतुओ का जन्म होता है। इसी तरह स्त्री-पुरुष मिलकर ही प्रजा [सन्तान] की उत्पत्ति करते है। अकेले पुरुष को अर्धेन्द्र कहा गया है।

यह सिद्धान्त भी कम विस्मयकारी नही है कि सीग वाले पशुओ के ऊपर के दात नही होते। यह भी एक तथ्य सामने आया कि सीग, दात और चोच का निर्माण एक ही तत्व से होता है। वह तत्व है अश्मा सोम जिनका विशद विवरण महानात्मा नामक तत्व के विवेचन के साथ पढने को मिला। यह भी दृष्टि मे आया कि पदार्थो की आकृति, प्रकृति एव अहकृति का निर्माण महान अथवा महत् के ही द्वारा होता है। महान् ही मानव के शुक्र मे अन्न यज्ञ के द्वारा प्रविष्ट होता है, जिसका कि आवास चद्रलाक मे पितर प्राणो के रूप मे होता है। इसके साथ ही यही ज्ञात हुआ कि शुक्र मे जो जीवाणु सन्तान धारक होते है, उनका उदगम चन्द्रमा मे है और प्रतिदिन एक-एक नक्षत्र के प्रभाव से वे सह पिण्ड के रूप मे शुक्र मे प्रविष्ट हाते है। कुल नक्षत्रो के प्रभाव से 28 सहपिण्डो की समष्टि ही मूलधन के रूप मे वह मानव शुक्र मे सदव विद्यमान रहते हैं और सन्तति क्रम के आधार पर उसमे ऋण, धनभाव उत्पन्न होते रहते हैं, अर्थात उसकी अवस्था मे परिवतन होता रहता है। इन्ही 28 सह पिण्डो की समष्टि का बीजी पिण्ड कहा जाता है। बीजी का पिण्डाश सातवो पीढी तक रहता है। जैविक विज्ञान के इस सिद्धान्त के आधार पर मानव बीज की रचना मे कुल 84 सहपिण्ड होते है जिनमे 28 धनात्मक एव 56 ऋणात्मक होते हैं। यही सिद्धान्त 84 लाख जीव-योनियो का आधार है।

पाठको के समक्ष विद्युत विज्ञान का भी सक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत किया गया, जिसमे स्पष्ट शब्दो मे बताया गया है कि विद्युत के दो रूप अभी तक अज्ञात है और वे हैं ध्रौव विद्युत एव सौम्य विद्युत। अभी तक हमे विद्युत की जो जानकारी है वह सूय स्रोत से आगे नही पहुची है। विद्युत् का विशाल स्रोत ध्रुव है जिसके आकषण मे भूपिण्ड अपने भा पत्र से बधा हुआ है। हमारे मन की जो गति है उसका

ग्रात सोम्य विद्युत है। इसको भी जानकारी अभी मनुष्य को नही थी परन्तु वेद विज्ञान मे दी गई है। सचमुच ही यह जानकारी रोमांचकारी है। हमारी धारणाओं के विपरीत यह तथ्य आया कि ध्रुव कोई नक्षत्र नही है बल्कि विद्युत क्षेत्र है। यह क्षेत्र चलायमान है। जिस नक्षत्र के निकट यह विद्युत क्षत्र रहता है उसी नक्षत्र का नाम ध्रुव हो जाता है। ध्रुव के तारतम्य से ही हमारी बुद्धि-समृद्धि की मात्रा मे घट-बढ होती है और नक्षत्रो की शक्ति मे भी। ध्रुव की परिक्रमा 25 हजार वर्षो मे पूरी होती है और जो देश इसके सम्मुख होता है वह उन्नति करता है।

माया के प्रति एक नया ही दृष्टिकोण हमारे सामने आया जिसमे बताया गया है कि माया मिथ्या नही है, उपेक्षणीय एव त्याज्य नही है। यही सृष्टि की प्रवर्तक है, यही कारक है और यही धारक है। माया ही असीम को ससीम, अखण्ड को सखण्ड और अव्यक्त का व्यक्त बनाती है। यह बल स्वरूप है जो रूप परात्पर मे पुरभाव उत्पन्न करके उसे पुरुष रूप प्रदान करती है और वहीं से सृष्टि की रचना का क्रम शुरू होता है। माया के प्रति उपेक्षाभाव होने के कारण ही हमारे यहा शून्यवाद, दुःखवाद और नैराश्यभाव पनप गया। इसी दृष्टिकोण के कारण हम ससार को, शरीर को क्षण भगुर मानते मानते अन्तत निरर्थक, त्याज्य और उपेक्षणीय समझ बैठे और सर्वथा पराभूत हो गए। केवल इसीलिए कि हमारी विज्ञान दृष्टि का लोप हो गया।

विज्ञान के प्रति हमारी मान्यता क्या है वह प मोतीलाल शास्त्री के ही शब्दो मे प्रस्तुत की गई। हमारे विज्ञान का मूल सिद्धान्त है, समदर्शन विषम वर्तन। यही दूसरे वैज्ञानिक सिद्धान्तो के साथ मौलिक मतभेद भी है। हमारे सिद्धान्त का क्रिया रूप यह है कि समानता केवल दृष्टि मे ही हो सकती है, व्यवहार मे नही क्योकि व्यवहार तो देश, काल और पात्र की अवस्थानुसार बदलता ही रहता हैं। व्यवहार कभी समान नही हो सकता। जबकि व्यवहार समान हो जाय और दृष्टि विषम हो जाए तो सर्वनाश ही समझिए। यही वैज्ञानिक दृष्टि है। व्यवहार मे समानता लाने के सभी प्रयोग भावुकतापूर्ण हैं, अवैज्ञानिक है। हमारी दृष्टि मे विज्ञान से अनिष्ट कदापि नही हो सकता क्योकि उसका आधार ज्ञान है। ज्ञान ही ब्रह्म है। अनेक को आधार बनाकर एक का ज्ञान करना ही ज्ञान है, ब्रह्म का साक्षात्कार है।

विज्ञान का स्वरूप हमने यह समझा है एक से अनेक की ओर जाना अर्थात् एक को आधार बनाकर अनेक की जानकारी करना एक, मे हो अनेक किस प्रकार उत्पन्न हो जाते हैं, इसी की जानकारी विज्ञान है और सब कुछ एक मे ही विलीन हो जाते है, इसकी जानकारी ज्ञान है। विज्ञान के लिए वेद मे "यज्ञ" शब्द का व्यवहार किया गया है और ज्ञान के लिए "ब्रह्म" शब्द का।

यज्ञ के स्वरूप विवेचन मे यह स्पष्ट कहा गया है कि यह विज्ञान की प्रयोगशाला है। अध्यात्म [शरीर] का सामजस्य अधिदैव अर्थात प्रकृति के साथ कर देना ही यज्ञ का प्रयोजन है। पवन-शुद्धि और अग्नि होत्र करना यज्ञ का स्वरूप नही है। यज्ञ की पुनीतता नष्ट न हो जाय, इसीलिए इसे कलियुग मे वर्जित माना गया है, क्योकि कलियुग मे शास्त्रीय मर्यादा शिथिल हो जाती है। यज्ञ के नाम पर आज जितने भी अनुष्ठान हो रहे हैं वे सभी वेद शास्त्रो मे वर्जित हैं और अग्नि होत्र मात्र हैं। उनमे विज्ञान का सर्वथा अभाव है।

वाक तत्व के विषय मे हम प्राय कुछ भी नही जानते। जो कुछ हम जानते है, वह भाषा मात्र है। वाक को हम भाषा ही समझते हैं और भाषा के बारे मे व्याकरण के आगे हमारी पहुच नही है, गति नही है अत जो कुछ हम जानते है वह नही के बराबर है। ओझाजी और मोतीलालजी की रचनाओ के आधार पर मैंने तीन लेखो की एक शृखला प्रकाशित की है। एक निबन्ध स्वामी,सुरजनदास जी द्वारा सपादित ग्रन्थ "पथ्यास्वस्ति" के अश के रूप मे प्रकाशित किया यह ग्रन्थ ओझा जी महाराज का लिखा हुआ है जो "शब्द ब्रह्म" का विशद निरूपण करता है। शब्द ब्रह्म को जानना ही परब्रह्म को जानना है अथवा परब्रह्म को जानने के लिए शब्द ब्रह्म को जानना परमावश्यक हैं। वाक् शक्ति ही शब्द ब्रह्म है और इसी का स्वरूप उक्त लेखो मे सक्षेप मे प्रस्तुत किया गया है।

वेद मे वर्णमात्रिका अथवा वर्णमाला को पथ्यास्वस्ति कहा गया है। पृथ्वी जिस पथ पर सूर्य भगवान् की परिक्रमा करती है, उस मार्ग को प [illegible]स्वस्ति कहा गया है। पार्थिव वाक् एव सौरी वाक् का सबन्ध होने कारण वर्णमाला को पथ्यास्वस्ति कहा गया है। इस विज्ञान का जा

स्वरूप मधुसूदन जी महाराज ने प्रस्तुत किया है, वैसा अन्यत्र देखने को नही मिलता। वाक् तत्व केवल भाषा या वाणी नही है बल्कि विश्व का कर्ता है। यह विश्व के कण कण मे नित्य प्रतिष्ठित है। वर्णमाला उसकी एक अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति चतुर्थ पीढी है। इससे पूर्व मे वाक् की तीन पीढिया हैं। उसकी जानकारी दी गई है।

योषा-वृषा पर भी विचार किया गया। स्त्री भ्रूण रूपा योषा-और पु भ्रूण रूपी वृषा तत्वो के मिले बिना सन्तान की उत्पत्ति सभव नही है। स्त्री पुरुष के मात्र शारीरिक समागम से गर्भ-धारण की अवस्था उत्पन्न नही हो सकती। योषा और वृषा नामक तत्व अन्तरिक्ष मे व्याप्त रहते है। यदि इन्हे पहिचान लें और इनका यजन कर सकें तो हम नई सृष्टि का निर्माण कर सकते है। स्त्री पुरुष के शरीर माध्यम मात्र है। जिनके द्वारा शरीर के अन्तर्निहित योषा-वृषा प्राणो का सयोग होता है। इससे यह भी प्रगट हुआ कि आजकल जो "टेस्ट" ट्यूब से बच्चे उत्पन्न करने का प्रयोग किया जा रहा है, उसका आधार योषा-वृषा तत्व ही है। यह ज्ञान हमे वेद शास्त्रो ने पहिले ही दे दिया है।

इस बीच गति तत्व पर भी चर्चा की गई यह सिद्ध किया गया कि विश्व के अणु-परमाणु सभी गतिशील है और सब कुछ गति-स्थिति के बीच समाया हुआ है। गति ही स्थिति बन जाती है और स्थिति मे से गति प्रकट होती है। विस्तार मे जाने पर गति स्थिति, आगति, स्नेह गति और तेजागति के रूप मे गति तत्व का वितान हो जाता है। "हृदय" शब्द मे सम्पूर्ण गति तत्व व्याप्त है।

सृष्टि की रचना के प्रसग मे बताया गया है कि हमारी सृष्टि का उद्भव आप तत्व से हुआ है। इसके लिये वेद मे "सवमापोमय जगत" सिद्धान्त स्थापित किया गया है। भूपिण्ड के रचना क्रम का आठ अवस्था मे विभाजन है जो आप फेन, मृदु सिकता, शकरा, अस्मा अय एव हिरण्यगर्भ रूप मे है।

असुरो के बारे मे हमारी बडी विचित्र धारणा है। असुरों को हम बडे-बडे सीग और दात वाले भयानक जीव समझा करते है। वास्तव मे ब्रह्माण्ड मे ये प्राण रूप से विद्यमान है। देव प्राण की भाति ही असुर प्राण भी है जिनकी सख्या 99 है, देव प्राण 33 है। सृष्टि से असुर

प्राणों की महती भूमिका है। शरीर मे और विश्व मे जितने भी मलीमस पदार्थ है उनका रचना असुरों से हो होती है। यथा राक्षस प्राण रुधिर और गर्भ की स्वरूप रक्षा करते हैं पिशाच प्राण मास का निर्माण करते है। अत्रि प्राण पारदर्शिता का अवरोध करते हैं, गर्भ धारण मे भी ये मुख्य भूमिका निभाते है। गर्भ की रक्षा का काम राक्षस प्राणों का है। वेद मे इनको वैज्ञानिक तत्वो के रूप मे निरूपति किया गया है और इस विज्ञान को ओझा जी महाराज ने स्पष्ट रूप मे हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। वेद के नाम पर जो कुछ भी हम पढ आए हैं उसमे वही यह वैज्ञानिक स्वरूप हमे नही मिलता है।

विज्ञान–वार्ता स्तम्भ को प्रारम्भ करने का एक मात्र उद्देश्य यही था कि विज्ञान के प्रति दृष्टिकोण का निर्माण और विस्तार हो और यह भी कि विज्ञान के स्वरूप को समझा जाए। जन सामान्य मे एक धारणा यह बनी हुई है कि मशीन के द्वारा जो प्रस्तुत या उत्पन्न किया जाए वही विज्ञान है। इसी धारणा से शिल्प का विधान का महत्व प्राप्त हो गया है। कारण भी स्पष्ट है। हमने विज्ञान का स्वय भुला दिया है। विज्ञान दृष्टि का सर्वथा लोप हो गया है, यह भी पहलू उभर कर मेरे सामने आया।

जब पहिली बार मने लिखा कि "वेद ही शिक्षा नीति का आधार होना चाहिए" तो एक बारगी जन मानस मे आलोडन हो गया। अपने पतीस वर्ष के पत्रकार जीवन मे लिखे गए किसी समाचार–विचार की वसी उत्साह–वर्द्धक प्रतिक्रिया नही हुई जो इस एक लेख के लिखने पर हुई। पाठको के पत्रो का ऐसा ताता लगा कि उसे सभालना ही एक काम हो गया। इससे प्रकट हुआ कि वेद के प्रति देशवासियो मे कितनी गहरी आस्था है परन्तु उसमें भावुकता का पुट अधिक है। अस्तु इसके बाद जब मैंने वेद विज्ञान पर नियमित स्तम्भ के रूप मे लिखना प्रारम्भ किया और विशिष्ट विषयो पर चर्चा प्रारम्भ की तो उलाहना हर कोई देने लगा कि बडा "डिफिकल्ट" है 'स्टिफ' है, "भाषा की प्राबलम' है अर्थात "कठिन" है 'क्लिष्ट" है, समस्या बना हुआ है', इत्यादि इत्यादि।

जब कतिपय पाठको का ध्यान मने अग्रेजी शब्दो की ओर दिलाया कहा कि हम कितने सहज रूप मे विदेशी भाषा का व्यवहार कर

पर लेते हैं। यदि तनिक ध्यान दें तो अपनी भाषा भी सीख सकते हैं। भले ही मैंने तर्क किया हो, परन्तु भाषा की समस्या ता है ही। यह यथार्थ है। जब तक भाषा न समझी जाए, विषय ज्ञान असभव है।

भाषा की यह समस्या एक बार प. मोतीलाल शास्त्री एवं सर राधाकृष्णन् के वार्तालाप में भी बाधक बन गई थी। सर राधाकृष्णन् जब बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति थे तब महामना मदन मोहन मालवीय ने शास्त्री जी को नैगमिक आम्नाय के बारे में विचार विनिमय के लिए आमन्त्रित किया। सर राधाकृष्णन् के यहा शास्त्री जी का अनुभव हुआ उन्हों के शब्दों में उद्धृत है

"जब हम उनकी सेवामें उपस्थित होकर सस्कृत मे अपना मन्तव्य प्रगट करने का उपक्रम करने लगे तो (सभवत "सर" महोदय के उस समय के प्राइवेट सैकेट्री) श्री पन्त महोदय ने इस भारतीय ? महान् दार्शनिक का यह आशय व्यक्त करने का निस्सीम अनुग्रह किया कि "सर" महोदय सस्कृत में उत्तर नहीं देंगे। हा! यदि इगलिश के माध्यम से हम अपने विचार अभिव्यक्त करें तो हम उनका इगलिश माध्यम में ही उत्तर प्राप्त हो सकता है। इस दिशा में निरक्षर मूर्द्धन्य इस व्यक्ति का प्रणतभाव में "कालायतस्मैं नम" की अनुमति को शिरोधार्य कर वहा से परावर्तित हो जाना ही परम पुरुषार्थ शेष रह गया था। वही हुआ भी।" प. मोतीलाल जी का कहना था कि भारतीय दर्शन शास्त्र की रचना तो सस्कृत मे ही हुई है। अत इसी माध्यम से कोई विद्वान् अधिकार पूर्वक वार्तालाप कर सकता है जो 'सर' महोदय को स्वीकार नहीं था।

इसके विपरीत दूसरा अनुभव यह भी हुआ कि सस्कृत के अधिकारी पडित भी विस्मय करते देखे गये। कितने ही सस्कृत विद्वानों से साक्षात्कार हुआ। उनमें सस्कृत महाविद्यालयों के आचार्य, प्राध्यापक, विश्वविद्यालय के सस्कृत विभागाध्यक्ष, विभागीय अधिकारी और इसी प्रकार के अध्येता थे। उनके लिए भाषा की समस्या उतनी नहीं थी, परन्तु विषय की अनभिज्ञता स्पष्ट थी। कारण यह है कि वेद के नाम पर अब तक सस्कृत में जो भी व्याख्याएं या टीकायें मिलती हैं वे सभी व्याकरण के आधार पर लिखी गई और सभी पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव है।

प मधुसूदन ओझा ने यह स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि वेद का अर्थ वेद से बाहर किसी विधि अथवा शब्दावलि मे नही किया जा सकता। वेद से पहले कोई ज्ञान ही नही था अत उसके अर्थों को खोलने के लिए वेद के शब्दो मे ही अर्थ खोजना होगा व्याकरण मे वह सामर्थ्य नही है और दूसरी किसी भाषा मे कोई पर्याय नही हो सकता। प मोतीलाल शास्त्री ने भी हिन्दी ग्रन्थो की रचना करते समय यह माना है कि हिन्दी मे वैदिक शब्दो का रहस्य प्रगट करने का सामर्थ्य तो नही है, परन्तु हिन्दी मे पारिभाषिक शब्दो का ज्यो का त्यो प्रयोग कर लिया गया। राष्ट्रहित की भावना से प्रेरित होकर, वेद विज्ञान को सर्व सामान्य तक पहुचाने के पुनीत सकल्प के कारण ही उन्होने हिन्दी मे ग्रन्थो की रचना की। जिस पर भी उसको समझना इसलिए कठिन हो रहा है कि पारिभाषिक शब्द नये लगते हैं। मेरा अनुभव यह है कि समझने मे हमारी सकल्प हीनता या जिज्ञासा हीनता बाधक है न कि पारिभाषिक शब्द।

हमारा चिन्तन-मनन अध्ययन-अध्यापन पाश्चात्य प्रभाव मे सर्वथा आक्रान्त है। पाश्चात्य का ग्रहण करना एक बात है, परन्तु उससे आक्रान्त हो जाना दूसरी बात हैं। आधुनिक शिक्षा मे निष्णात अधिकाश की अवस्था नही है कि वे अपने मौलिक शास्त्रीय ज्ञान को हृदयगम कर। अपनी सास्कृतिक परम्परा से व नितान्त विच्छिन्न हैं। जो प्राचीन शास्त्रो के अध्येता हैं, वे दार्शनिको एव सन्तो के प्रभाव से आक्रान्त हैं। हमारे दार्शनिको की महती भूमिका यह रही कि उनका आग्रह ज्ञान पक्ष पर ही अधिक रहा सन्तो का आग्रह भावुकता या भक्ति तत्व पर रहा। परिणाम यह हुआ कि एक ओर सम्पूर्ण समाज दार्शनिक मत मतान्तरो और उनके सप्रदायो मे टुकडे टुकडे मे बिखर गया तो दूसरी ओर निष्ठा का लोप हो गया।

सर्वत्र शून्यवाद, दुखवाद, क्षणिक वाद का बोलबाला। आचार निष्ठा से शून्य दार्शनिक सप्रदाय, अतिशय भावुकता से पूर्ण एकागी भक्तिवाद, कर्मनिष्ठा का सर्वथा लोप एव वैज्ञानिक दृष्टिकोण का तिरोभाव हमारे अध पतन का कारण बन गया। हम शरीर से विमुख, लौकिक धर्मों से विमुख, अकर्मण्यता एव उदासीनता के प्रतीक बन गए।

वेद विज्ञान सागोपाग एव समग्र विज्ञान है। वह जीवन, जगत् या जीव के किसी एक पक्ष की भी उपेक्षा नही करता। इस दृष्टि से आत्मा, बुद्धि, मन और शरीर इन चारो की समष्टि ही मानव है, परिपूर्ण मानव है, शरीर से पुष्ट, मन से तुष्ट बुद्धि से प्रबुद्ध और आत्मा से शान्त होना ही मानव का वास्तविक रूप है और इसी का रहस्य समझाने वाला विज्ञान वेद विज्ञान है। यही सृष्टि का विज्ञान है।

ओझा जी और उनके शिष्य मोतीलाल जी ने पश्चिम और पूव के प्राय सभी विचारको की विचार धाराओ का तुलनात्मक अध्ययन किया। "प्लाटो, अरस्तू इत्यादि से लेकर आइस्टीन तक शायद ही काई पाश्चात्य चि‍तक होगा जिसके सिद्धान्तो का उन्होने ज्ञान नही किया, भारतीय मनीषियो की तत्व मीमासा का उन्होने गहन अध्ययन किया। उन्होने निष्कष दिया है कि एक सीमा से आगे पाश्चात्यो की पहुच नही है। दोनो ही वर्ग वेद विज्ञान के क्षर–तत्व के नीचे–नीचे तक रह जाते है। अत अपूर्ण हैं, सीमित है। पश्चिमी दार्शनिको मे वे काण्ट को अत्यधिक महत्व देते हैं–परन्तु उनको भी गति बहुत दूर तक नही लेते। कुल मिलाकर दार्शनिकता को वे अपूण मानते हैं और विज्ञान को ही सर्वोपरि तत्व मानते ह।

अतीव शोचनीय बात यह है कि हमारे पास अमूल्य ज्ञान भण्डार विद्यमान है जो कि सृष्टि के कल्याण मे सहायक हो सकता है। सम्प्रदायो और कुसस्कारो से ग्रस्त इस भारतीय समाज को वह उद्बुद्ध करने का साधन बन सकता है तो शेष ससार को भी वह विज्ञान सम्मत अतएव कल्याण के माग पर चलने का दिशा दे सकता है, वह उपेक्षा की वस्तु बना हुआ है। न तो शिक्षा के केन्द्र समझे जाने वाले विश्वविद्यालयो का ध्यान इस ओर है न शासन के सूत्रधारो का, न विद्वज्जनो का। जिस देश का ज्ञान बल अस्त या आवृत हो जाता है, उसकी सभी सम्पदाय लुप्त हो जाती हैं। हमारी जो दुरवस्था आज हो रही है, उसका कारण हम अपने मे ही खोज सकते है। हम अपने ही ज्ञान–परम्परा से विच्छिन्न हो गए। हमे किसी ने नही गिराया। हम स्वय ही अपने प्रमाद से पतित हुए है और हम फिर उठकर खडे हो सकते है यदि अपन ज्ञान बल का सिञ्चित कर लें।

—